महामहोपाध्याय-विद्यावारिधि-पण्डित-मथुराप्रसाददीक्षितप्रणीतं-

भक्तसुदर्शननाटकम्

तच्च

तदीयपौत्रेण

एम्० ए० एल्-एल्० बी० इत्युपाधिधारिणा

अयोध्यानाथदीक्षितेन

अनूदितम्

प्रकाशकः

महामहोपाध्याय-पण्डित-मथुराप्रसाददीक्षितः,

१४६ हजरियाना, झाँसी।

प्रथमावृत्तिः] १९५४ [मूल्यम् २)

श्रीजगदम्बिकायाश्चरणकमलेषु समर्पणम्

हरिविरञ्चसुरेन्द्रादिमौलिमालाचर्चितचरणयुगलाया निखिलऋषि-
मुनियोगिजनसमाधिनिध्याताया भवाटवीचेखिद्यमानमुमुक्षुनि-
करसंपूजिताया जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारिकायाश्चिद्घनानन्द-
रूपाया मातुर्जगदम्बाया अनन्यभक्त्या सौभाग्य-
वत्या श्रीसोलननरेशधर्मपत्न्या महामहोपाध्याय-
मथुराप्रसादेन कारितमिदं भक्तसुदर्शननाटकं
स्वाराध्यदेवतायाः श्रीजगदम्बायाश्चर-
णसरोजयोः श्रद्धापुरःसरं समर्प्यते,
तेन तया सह तस्याः सायुज्य-
मुक्तिः स्यादिति सोलन-
नरेशो दुर्गासिंहः
प्रार्थयते ।

—•—

भूमिका

सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्माद्वारा अनुभूत आनन्द के व्यक्ति के साधन की विवेचना प्रसङ्गानुपयुक्त तथा दुरूह मानने पर भी हम बलपूर्वक प्रतिपादन करने की धृष्टता कर सकते हैं कि उसकी प्रतिकृति जीवात्मा ने इस आनन्द की उपलब्धि के लिये ललित कला को ही अपना साधन चुना। स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, गान और काव्य इन पांच रूपों में सर्वोत्तम तथा सर्वप्रधान एवं न्यूनतम उपादान कारण से समन्वित काव्यकला मधुमती भूमिका में यौगिक सिद्धिके समान जिस लोकोत्तर आनन्द का उद्रेक करती है वह सहृदयों से तिरोहित नहीं है।

इसके दो स्वरूप हैं दृश्य और श्रव्य। एक को नाटक कहते हैं और दूसरे को काव्य। यद्यपि काव्य-साहित्य के जन्मदाता महर्षि वाल्मीकि के काव्य 'रामायण' को कराल काल कवलित न कर सका, परन्तु प्रजापति, सरस्वती और भरत मुनि से एवं अप्सराओं से अभिनीत समुद्रमन्थन, त्रिपुरदाह, लक्ष्मीविजय, जामदग्न्यविजय, कुमुदशेखरविजय तथा शर्मिष्ठा-ययाति नामक नाटकों को इस कुटिल काल ने अतीत के गर्भ में ऐसा तिरोहित कर लिया कि इनके केवल नाम साहित्य ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों से प्रवाहित रसमयी धारा के दर्शन आज हम इस भक्तसुदर्शन नाटक के रूप में कर रहे हैं।

मुसलिम आक्रमण के अनन्तर संस्कृत साहित्य में नाटकों का निर्माण अवरुद्ध-सा हो गया है। विद्वानों की प्रतिभा टीका ग्रन्थों के निर्माण में प्रखरित हो उठी, परन्तु साहित्य के समुन्नायकों को इससे सन्तोष नहीं। क्योंकि मौलिक ग्रन्थों की रचना के विना संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार सम्भावित नहीं। विदेशियों के मुखारविन्द से संस्कृतभाषा के मृतत्व की घोषणा सुनकर किस सहृदय संस्कृत अनुरागी का हृदय क्षोभ से नहीं भर जाता !!

एक बार पञ्जाब के राज्यपाल गवर्नर श्री मालकम हेली के यह कहने पर कि

आजकल संस्कृत साहित्य में नाटक निर्माण की कल्पना भी असंभावित है, पञ्जाब विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष आचार्य डा० लक्ष्मण स्वरूप ने उनसे सानुनय यह निवेदन किया था कि भगवन् ! ऐसी बात नहीं है, बहुमुखी प्रतिभा-वान श्री मथुराप्रसाददीक्षित ने अभी एक मौलिक तथा ऐतिहासिक नाटक लिखा है, और पञ्जाब विश्वविद्यालय के छात्र उसका अभिनय करने जा रहे हैं।

इस 'वीर प्रताप' नामक नाटक के सुन्दर अभिनय को अवलोकन कर विद्वानों का हृदय हर्षविभोर हो उठा और उन्होंने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की। इस पर श्री डाक्टर साहब ने दीक्षित जी को एक पत्र लिखा—

"आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आपके वीरप्रताप नाटक का बड़ी सफलता के साथ अभिनय किया गया। दोनों दिन स्त्री-पुरुषों से हाल खचाखच भरा हुआ था। सबने भूरि भूरि प्रशंसा की। आपकी रचना बहुत ही सुन्दर है और रंगमञ्च पर इसके अभिनय को देखकर नाटक की उत्कृष्टता के संबन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। इस समय में नाटक रचना एक दुष्कर कार्य है। आपने न केवल इस दुष्कर कार्य को ही सम्पन्न किया है, वरन एक अपूर्व वीररस प्रधान नाटक की रचना कर संस्कृत साहित्य की वृद्धि की है। आपकी यह कृति एक अमर कृति है और प्रत्येक संस्कृत साहित्य के प्रेमी तथा हितैषी का हृदय आप के प्रति असीम श्रद्धा तथा कृतज्ञता से भरा है। मैं चाहता हूँ कि राजासाहब (सोलननरेश) स्वयं देखे कि आपने कितनी मधुर कितनी रम्य कितनी सुन्दर और ओजपूर्ण रचना की है।"

रचयिता की जीवनी—

भगवन्तनगर (हरदोई) प्रतिष्ठित संभ्रान्त कान्यकुब्जों का एक निवासस्थान है। आपके पितामह चिकित्सक चूड़ामणि श्री हरिहर से अवधप्रान्त का एक एक बच्चा भी पूर्णतया परिचित था। उस समय के लोग श्री हरिहर को पीयूषपाणि के नाम से स्मरण करते थे। आप के पांच पुत्र थे। जिनमें द्वितीय पुत्र श्री बदरीनाथ की धर्मपरायणा धर्मपत्नी श्रीमती कुन्ती देवी के गर्भ से संवत् १९३५ अगहन मास के शुक्लपक्ष षष्ठी के दिन आपका (श्री मथुराप्रसाद) का जन्म हुआ। संवत् १९४८ में आपकी प्रतिभा पर रीझकर पाण्डेय कुलोत्पन्न श्रीशिवनारायणपाण्डेयजी

ने अपनी सुपुत्री श्री गौरीदेवी का विवाह आपके साथ कर दिया। इनसे एक कन्या तथा तीन पुत्रों का–सदाशिव, वैकुण्ठनाथ, रामनाथ का–जन्म हुआ। आपके ज्येष्ठ पुत्र सदाशिव सुकवि, नाटककार तथा प्रौढ समालोचक हैं। आपके (श्री मथुराप्रसाद के) ९ पौत्र हैं—जिनमें से एक तो राजकीय उच्च पद (सुपरिंटेंडेंट आफ पुलिस) पर कार्य कर रहे हैं। द्वितीय एल-एल.बी. है, आप के सभी पुत्र उच्च पद पर हैं और पौत्र या तो उच्च शिक्षासम्पन्न हैं या उसके अधिगम के लिये प्रयास कर रहे हैं। आपके यहाँ जगदम्बा की कृपा से सरस्वती कुलवधू के समान निवास कर रही है। विद्यार्थि-जीवन में अध्यापक वृन्द शास्त्रार्थ करने में आप की प्रतिभा-कल्पना को देखकर सदा मुग्ध रहता था। शास्त्रार्थ से आपकी विशेष अभिरुचि रही है। (१) काशीशास्त्रार्थ (२) नारायणबलिनिर्णय (३) कुतर्कतरुकुठार (४) जैनरहस्य (५) कलिदूतमुखमर्दन (६) कुण्डगोलनिर्णय (७) लघु-बृहद् मन्दिरप्रवेशनिर्णय आदि अनेक प्रकाशित ग्रन्थों से आपकी तार्किक पद्धति तथा विषयप्रतिपादन शैली का परिचय प्राप्त हो जाता है। अध्ययन काल में ही आप ने (९) अभिधानराजेन्द्रकोष (Jain encyclopaedia in prakrit) का सम्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया था। यह ग्रन्थ सन् १९२३ में बड़े बड़े सात भागों में श्री राजेन्द्रसमिति द्वारा प्रकाशित हुआ है। आपने(१०) प्राकृतप्रकाश की एक विस्तृत टीका भी संस्कृत तथा हिन्दी में लिखी है। हाल में (११) एक पाली-प्राकृतव्याकरण प्राकृतप्रदीपनामक ग्रन्थ का भी निर्माण किया है।

बारहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में जनता की भाषा में पृथ्वीराज रासो नामक एक वीररस प्रधान ऐतिहासिक महाकाव्य का निर्माण हुआ था। इसकी भाषा अपभ्रंशमयी प्राचीन हिन्दी कही जाती है। भाषा की दुरूहता के साथ-साथ इसका विशालकाय प्रक्षेप इसके अर्थानुसंधान में बाधक-सा हो रहा था। आपने सरल भाषा में प्रतिलिपि के आधार पर प्रक्षेपरहित रासो के प्रथम द्वितीय समय का अर्थ लिखकर इसकी ग्रन्थसंख्या की सप्तसहस्रात्मकता की घोषणा की। आपके इस कार्य से प्रसन्न होकर भारत सरकार ने सन् १९३६ में महामहोपध्याय पदवी से सम्मानित कर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया।

दर्शनशास्त्र में आपका विशेष अनुराग रहा है। भारतीय सन्तों की वाणी में

दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषण करना आपका प्रधान ध्येय रहा है। समाधि-अवस्था में माता श्री १०८ श्री आनन्दमयी के मुखारविन्द से कुछ शब्दों की ध्वनि सुनाई पड़ी। भक्तों ने उसे लिपिबद्ध तो कर लिया, पर उन असंबद्ध-से पदों की सुसंगति एक जटिल समस्या थी। सोलननरेश श्री राजा दुर्गासिंह महोदय ने आपसे उसकी चर्चा की, और श्रीमाताजी के सम्मान में आयोजित एक सभा में उनकी व्याख्या करने के लिये आपसे प्रार्थना भी की। एक पद की व्याख्या करने के अनन्तर लोगों के आग्रह पर आपने उन सम्पूर्ण पदों का दार्शनिक विवेचन किया, जो आज (१३) मातृदर्शन के रूप में प्रकाशित हो गया है। इस ग्रन्थ के समवलोकन करने के अनन्तर काशीस्थ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष दार्शनिकशिरोमणि म. म. डा० श्री गोपीनाथ कविराज जीने अपनी यह सम्मति व्यक्त की कि 'आपकी प्रतिभा से ये पद कामधेनु-से प्रतीत होते हैं'।

संस्कृत साहित्य में 'व्याकरण' की उपादेयता किसी से भी तिरोहित नहीं है, परन्तु सिद्धान्तकौमुदी का जटिल विस्तर देखकर लोगों के होश उड़ जाते हैं। भगवान् पाणिनि का ध्येय—अल्पकाल में भाषा का परिज्ञान काफ़ूर हो जाता है। इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर आपने (१४) पाणिनीय सिद्धान्त कौमुदी की रचना की। यह फक्किकामय वाग्जाल से शून्य पा. सि. कौमुदी संस्कृत समुन्नयन में कितना सहयोग देगी—यह समय ही बता सकेगा।

कविता क्षेत्र में यद्यपि आपने किसी महाकाव्य अथवा खण्ड काव्य की रचना नहीं की है, तो भी आपके मुक्तक पद्य अपना विशेष स्थान रखते हैं। (१५) अन्योक्तिशतक में आपने खूब फबती कसी है। (१६) नारदशिववर्णन में आपकी उत्प्रेक्षायें अपना विशेष स्थान रखती हैं। (१७) कवितारहस्य में आपने समस्या पूर्ति के प्रकार ही नहीं दरसायें हैं, पर इसी व्याज से रसमयी कविता की धारा बहाई है। कामशास्त्र के ऊपर भी आपने एक (१८) केलिकुतूहल नामक अभिनव ग्रन्थ लिखा है—जिसमें काव्यकला के प्रदर्शन के साथ साथ विषय का प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि आप प्राचीन परिपाटी के परिपोषक पण्डितों के अग्रणी समझे जाते हैं, तथापि हम यह बलपूर्वक कह सकते हैं कि आप नवीन श्रेणी के विद्वानों में

क्रान्तिमयसन्देश वाहक हैं । आपने अपनी विचार-धाराओं की अभिव्यक्ति अपने ५ नाटकों में की है, जिनके नाम हैं—

१ वीरप्रताप
२ भारत विजय
३ शङ्कर विजय
४ पृथ्वीराज
५ भक्त सुदर्शन ।

(१६) वीर प्रताप—

प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के चरित से अपरिचितत्व रखने वाला पुरुष न तो भारतीय हो सकता है और न ऐतिहासिक विद्वान्। महान् अकबर की महत्ता के और महाराणा प्रताप के शौर्य-धैर्य साहस के निदर्शक इस पुरुष में स्वतन्त्रता का पावन प्रेम परिलक्षित होता है । आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन करने के अनन्तर इसमें हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष की गन्ध भी कहीं नहीं मिलती । इसमें सन्देह नहीं कि अकबर के चरित्र से प्रताप का चरित्र अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट प्रदर्शित किया गया है। स्थालीपुलाकन्याय से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। प्रतिपक्षी की पत्नियों के प्रति दोनों के विचारों से उपर्युक्त अवतरण का स्पष्टीकरण हो जाता है। एक ओर तो अकबर प्रताप की पत्नी के हरण के लिये आदेश देता है, और दूसरी ओर प्रताप के हाथ में आई हुई अकबर की धर्मभगिनी तथा उसके सेनापति की धर्मपत्नी को सम्मानपूर्वक लौटाने का निर्देश करता है ।

अकबरः—

ससूनुमेनं मददुर्विदग्धं मचिम्लुचं क्षीणबलं द्विषन्तम् ।
खलाप्रयं याचकवद् भ्रमन्तं निहत्य तस्य प्रमदां हरध्वम् ॥

षष्ठे अङ्के ।

अब अकबर के सेनापति की स्त्रियों की चर्चा सुनिये—

से० चरः—महाराज, युष्मत्सेनापतेः पत्नी युष्माकं धर्मभगिनी सखीभिः सहितैव प्रतापभटैर्निगृहीता ।

अकबरः—कथमिदमश्राव्यं शृणोमि । (स्वगतम्)

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता, गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता ।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणं जितोऽहमेतेन निपातितः पदे ॥

षष्ठे अङ्के ।

जब ये स्त्रियाँ प्रताप के पास लाई जाती हैं तो वह कहता है—

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुलोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।
परापवादसदृशं तद्वर्णनमुपेक्षते ॥

तस्मादधुनैव समुतां ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे नयस्व । मा स्वकीयजन-विरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु । यतः—

पर पुरुष-परीतां निर्जने सञ्चरन्तीं
बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।
बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं
तदपि पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥

सप्तमे अङ्के ।

जब अकबर अपने सेनापति से यह पूछता है कि क्या प्रताप ने स्त्रियों को दासी बना लिया है, तो वह उत्तर देता है—

सेनापतिः—शान्तम् पापम् । शान्तम् पापम् । तेन तु अनुपदमेव ताः सर्वा अपि सबहुमानं प्रेषिताः । धन्योऽयमार्यो जनः परमौदार्यसम्पन्नश्च ।

किं बहुना—

परस्त्रियं यो मनसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।
चराचरं स्वप्रभया प्रकाशयन्न चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥

सप्तमे अङ्के ।

गत महायुद्ध के (१९३७–१९४४) अवसर पर रूस ने उसी 'घर फूँक' नीति से जर्मनी को व्याकुल कर दिया था, जिस नीति का प्रयोग महाराणा श्रीप्रताप ने किया था । प्रताप कहते हैं कि—

प्रतापः—सर्वाप्युपत्यका अन्न-जल-फलादिभिः शून्या विधातव्या ।
तत्प्रकारश्चायम्—

वन्ध्या वा सन्त्यवन्ध्याः क्वचिदपि फलिनो ज्ञायमानाः समस्ताः
क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा मूलतः शोधनीयाः ।
सस्यं मूलादिकन्दं मधुकमपि लता यत्र कुत्रापि वा स्युः
तत्सर्वं नाशनीयं नहि भवतु यतो भक्ष्यलाभो रिपूणाम् ॥
कूपा वाप्यः सरसि स्वविषयचलिते सत्पथे वाऽपथे वा
यावन्त्येतानि सन्तु क्वचिदपि च भवेद् वारि वा पल्वलं वा ।
तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्वो विधेयो
देशोऽस्माभिर्महीध्राद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या ॥

तृतीये अङ्के ।

इस नाटक का नायक है प्रताप, और प्रतिनायक है अकबर । इसकी कथा-वस्तु है इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी का युद्ध और भामाशाह की आर्थिक सहायता से पुनः राज्यप्राप्ति । इस ऐतिहासिक नाटक में वीररस की ऐसी सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है कि देखते ही बनता है ।

(२०) भारत विजय—

यह एक ऐतिहासिक नाटक है । भारत में अंग्रेजों के आगमन से लगाकर महात्मा गान्धी द्वारा स्वराज्य प्राप्ति तक सभी मुख्य घटनाओं का इसमें उल्लेख किया गया है । संवत् १८०० से लगाकर २००५ तक की घटनाओं के उल्लेख को एक नाटक के रूप में देखकर संकलनत्रय वादियों के मन में इसके प्रति क्या क्या विचार उत्पन्न होंगे यह तो वही जानें, पर इसमें सन्देह नहीं कि शेक्सपियर ऐसे पाश्चात्य नाटककारों ने इस संकलनत्रय का उल्लंघन करके अपने नाटकों में रमणीयता भर दी है । (शेक्सपियर ने नाटक लिखे हैं, पर संकलन त्रय का पालन उन्होंने केवल Tempest में ही किया है ।) इस नाटक में कथावस्तु इस प्रकार से ग्रथित है कि दर्शकों के अथवा पाठकों के हृदय में यह भाव भी उत्पन्न नहीं होने पाता कि इसमें २०० वर्षों की घटनाओं का उल्लेख किया गया है । घटनाक्रम के परिशीलन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसके सभी पात्र एककालिक हैं, अतएव काल-संकलन के उल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

प्राचीन आचार्यों ने कवि को भविष्यद्रष्टा माना है, पर इसकी पुष्टि में उन्होंने प्रागैतिहासिक कालिक व्यास और वाल्मीकि के ही नाम बतलाए हैं। नास्तिक वाद से परिपोषित आधुनिक आलोचक वृन्द उनका भविष्यद्रष्टृत्व सन्देहात्मक दृष्टि से देखता है, परन्तु इस नाटक की रचना के अनन्तर उन प्राचीन आचार्यों के मत पर कोई ननु-नच नहीं कर सकता। संवत् १६६४ (सन् १६३७) में रचित इस नाटक में महात्मा गान्धी महाराज के हाथों में शासन सूत्र देकर अंग्रेजों के चले जाने का उल्लेख किया गया है और स्वराज्य की प्राप्ति हुई है संवत् २००४ (सन् १६४७) में। संवत् १६६५ में सोलन नरेश राजा श्री दुर्गासिंह महोदय ने इसे जप्त स्वाधीन कर लिया। जब संवत् १६६६ सन् १६४२ में काशीस्थ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रधान आचार्य (प्रिंसिपल) महामहोपाध्याय डाक्टर श्रीगोपीनाथ कविराज ने, तथा संवत् २००३ सन् (१६४६) में शिक्षा-मन्त्री डाक्टर श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने कवि की भविष्यवाणी को संदेहात्मक दृष्टि से देखकर भी इसकी सफलता के लिये अपनी शुभ कामनायें प्रकट की थीं।

आलोचनात्मक दृष्टि से इस पुस्तक के अध्ययन करने के अनन्तर नाटककार की इतिहासज्ञता तथा राजनीतिज्ञता के विषय में सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता। राजनैतिक ऐतिहासिक वीररसात्मक इस नाटक में नायक का अभाव है, पर सम्पूर्ण घटनाओं की केन्द्रीभूत भारतमाता में इसका प्रधानपात्रत्व है। प्रतिनायक के स्थान पर विदेशी गौराङ्ग का नाम ही पर्याप्त है। इसमें प्रधान रस वीर है, जिसकी अभिव्यञ्जना से कदाचित् ही कोई पृष्ठ अछूता बच गया हो।

भारतमाता का पूजन सुगम नहीं है, इसके लिये सर्वस्व के साथ साथ सिर का भी अर्पण करना पड़ेगा। जिनमें आत्माभिमान हो वे ही इस पूजन-मन्दिर में प्रवेश करें। कवि की वीरोल्लासिनी भाषा दर्शनीय है। वह कहता है कि—

अविरल-करवाल स्फालनोल्लासितानाम्
उदयति हृदि येषामात्मगर्वप्रकर्षः।
विजयममरभावं वेहमानाः शिरः स्वं
जनुरवनिसपर्याहेतवे तेऽर्पयन्ताम्॥

पञ्चमे अङ्के।

अंग्रेजों की कुटिल नीति का चित्रण देखते ही बनता है। कवि का भारत-माता के द्वारा कथन है कि—

व्यापारेणात्मकृत्यं दृढयति जनतां वर्तयन्नीशुधर्मे
स्वं सङ्घं देशभक्त्योन्नमयति विकिरन्नस्मदीयेषु वैरम्।
आत्मज्ञातिं प्रियोक्त्या प्रथयति विषयं मोहयन् दास्यभावे
बुद्धरस्य प्रभुत्वं किमु कुनयविदः स्यान्नु दौरात्म्यमेतत्॥

तृतीये अङ्के।

(२१) ३ शङ्करविजय—

यह एक दार्शनिक नाटक है। इसमें नीरस सभी मतों का विवेचन सरसता के साथ किया गया है। प्रपानकरसन्याय से इसमें सभी रसों का स्वाद मिल जाता है, पर इसमें भी प्रधानता है वीररस की। दर्शनशास्त्र में शब्द प्रमाण की उपादेयता कितनी है यह किसी से तिरोहित नहीं है, किन्तु चार्वाक द्वारा उसका निराकरण पाठकों के हृदय में गुदगुदी पैदा कर देता है।

शब्दः प्रमाणं स च कस्य शब्दः
शिष्टस्य चेत्, कोऽस्ति जगत्यशिष्टः।
असत्यवाक्, तस्य विनिश्चयः स्यात्
केनेति सर्वत्र विवादवार्ता॥

तृतीये अङ्के।

इस गम्भीर दार्शनिक नाटक में हास्य रस कठिन ही नहीं पर असम्भव भी है, परन्तु कवि की चमत्कारमयी लेखनी इसकी भी अभिव्यक्ति कर सकी है। षष्ठ अङ्क में जुंगिक और कौलाचार्य का संवाद दर्शनीय है।

कौलाचार्यः—दीक्षितोऽसि। आगच्छ, संमुखं तिष्ठ। यद् यद् मया वक्तव्यं—तत् तत् त्वयाऽपि प्रत्युत्तरणे वक्तव्यम्।

जुङ्गिकः—एव्वं चेव्व करिस्से।

कौलाचार्यः—अहं त्वां कृत्यासाधने नियुञ्जे।

जुङ्गिकः—अहं त्वां कृत्यासाधने नियुञ्जे।

कौलाचार्यः—अरे मूर्ख ! वद–नियुक्तोऽस्मि ।

जुङ्गिकः—अरे मूर्ख ! वद नियुक्तोऽस्मि ।

कौलाचार्यः—अपसर, गच्छ, न ते कार्यम् ।

जुङ्गिकः—अपसर, गच्छ, न ते कार्यम् ।

कौलाचार्यः—(मनसि) अयं तु गृहपिशाच इव शिरसि पतितो नैवोपशाम्यति, प्राकृतमेवाश्रये । (प्रकाशम्) साहु साहु, जुत्तं जुत्तं । सिज्झं चेव मे कज्जं (हस्तेन पृष्ठमास्फालयति) सोहणोऽसि । उच्चिट्ठउ गच्छउ ।

षष्ठे अङ्के ।

(२२) ४ पृथ्वीराज—

यह एक दुःखान्त नाटक है । इसकी रचना में भी वीररस की ही प्रधानता है । संस्कृत के नाट्यशास्त्र विशारद दुःखान्त नाटक के पक्ष में नहीं है । पर अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं में दुःखान्त नाटकों की अधिकता सर्वविदित है । सूत्रधार के मुख से कवि का कथन है कि—

दुःखान्तकं परमथापि सुखैकरूपं
लोकप्रबोधजनकं समयानुकूलम् ।
देशोत्थितिं च विदधत् सदसन्नयाढ्यं
तस्मादिदं भवति मे बहुमानपात्रम् ॥

इस नाटक में इतिहासप्रसिद्ध मुहम्मद गोरी और भारतीय अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज के युद्धों का वर्णन है । शब्दवेधी बाण द्वारा गोरी के वध के उपरान्त छुरिका से पृथ्वीराज की आत्महत्या पर इसका निर्वहण होता है ।

(२३) ५ भक्त सुदर्शन—

उपर्युक्त नाटकों के समान इस नाटक के कथानक का आधार इतिहास नहीं है । क्योंकि इसमें प्रागैतिहासिक कालिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है । सुदर्शन का निदर्शन कवि की कल्पना प्रसूत नहीं है, पर श्रीदेवीभागवत में इसका वर्णन बड़ी आरभटी के साथ तृतीय स्कन्ध के १२ अध्यायों में (१४ वें अध्याय से लगाकर २५ वें अध्याय तक) उपवर्णित है । इसकी कथा देवी-भक्तों का

सर्वस्व है, भुक्ति और मुक्ति की देनेवाली है। अप्रत्यक्ष रूप से इस कथा में भगवती दुर्गा के माहात्म्य का उल्लेख है।

"सूर्यवंश समुत्पन्न कोशलेश पुष्पपुत्र ध्रुव सन्धि की दो पत्नियाँ थीं—मनोरमा और लीलावती। मनोरमा के पुत्र का नाम था सुदर्शन और लीलावती के तनय का नाम था शत्रुजित्। ध्रुवसन्धि की मृत्यु के अनन्तर राज्याभिषेक के लिये युद्ध हुआ, जिसमें सुदर्शन का नाना वीरसेन मारा जाता है। बिचारी मनोरमा अपने पुत्र के साथ भरद्वाज के शरण जाती हैं। वहाँ पर मुनि की परिचर्या से तथा देवी की आराधना से सुदर्शन को सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित एक दिव्य रथ की प्राप्ति होती है। काशी नरेश की कन्या शशिकला के स्वयंवर में वह देवी की प्रेरणा से जाता है। वहाँ पर देश-देश के नरेश आते हैं, पर शशिकला स्वयंवर मण्डप में नहीं आती, वह तो स्वयंवर में अनेक दोषों का उल्लेख करती है, उसका विवाह सुदर्शन से हो जाता है। इससे क्षुब्ध होकर युधाजित् इत्यादि मार्गका अवरोध करते हैं, सुदर्शन के साथ उनका युद्ध होता है, जिसमें स्वयं चण्डिका अवतीर्ण होकर युधाजित् शत्रुजित् और केरलनरेश का वध करती है। तदुपरान्त सुदर्शन भरद्वाज के आश्रम में जाकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण करता है। फिर अपनी विमाता के पास जाकर और उनकी आशीष पाकर राज्य सिंहासन पर समारूढ होकर प्रजा का पालन करता है। प्रजा देवी महोत्सव का आयोजन करती है, वह उसमें सहयोग देता है। भरद्वाज मुनि भी उसमें सम्मिलित होते हैं और भरतवाक्य के पूर्ण होने का वरदान देते हैं।"

यहीं पर नाटक समाप्त होता है।

विस्तार भय से पात्रों के चरित्र का चित्रण न कर केवल सुदर्शन के विषय में दो-चार शब्दों के लिखने का लोभ हम न संवरण कर सकेंगे। शशिकला के स्वयंवर में सुदर्शन को एकाकी देखकर उसके प्रतिपक्षियों के हृदय में आश्चर्य का सञ्चार होता है। युधाजित् के इस कहने पर कि तुम संग्राम में मारे जाओगे, सुदर्शन निर्भीकता से उत्तर देता है—

समराङ्गणगताः शूराः दर्शयन्ति स्वपौरुषम्।
कातरास्तु सदैवैवं वल्गन्ति रणविह्वलाः॥

सुदर्शन की वीरता तथा जगदम्बा के प्रति अटल भक्ति की अभिव्यञ्जना इस अग्रिम पद्य से पूर्णतया ही जाती है—

सर्वानुपेतान् युगपद्रणाग्रे क्षणादहं नाशयितुं समर्थः ।
स्वभक्तवश्या जगदम्बिका वा सहायिकोपेत्य हनिष्यतीमान् ।।

भरद्वाज मुनि से इसी घटना का वर्णन करता हुआ सुदर्शन कहता है—

तत्र मयोक्तम्—

एकेनैव हता निशाचरचमू रामेण घोरे वने
संग्रामे खरदूषणप्रभृतयः किन्न श्रुताः पातिताः ।
एकोऽहं रणसंगतान् रिपुमृगान् हन्तुं क्षमः सिंहवत्
आशंसे जगदम्बिकाचरणयोरेकां कृपां सद्बलम् ।।

जगदम्बिका की भक्ति के वर्णन से कदाचित् ही कोई पृष्ठ बच गया हो। इसका प्रधान कारण इस नाटक की भक्तिप्रधानता है। इसमें शृङ्गाररस वीररस का अङ्गी बन गया है। शशिकला के हृदय में सुदर्शन के प्रति स्वप्नदर्शन तथा ब्राह्मण द्वारा वर्णन से पूर्वानुराग उत्पन्न हो गया है। शशिकला के उदय से वह विरहानल से सन्तप्त हो उठती है। वह चन्द्र से कहती है कि—

रे रे चन्द्र ! पयोनिधेस्तु तनयो बन्धू रमायाः स्मृतः
शम्भोः शेखरमागतोऽप्यमृतभूस्तारापतिः श्रूयसे ।
कृष्णो ब्रह्मपदात्तवान्वयगतस्त्वं विप्रराजोऽपि सन्
किं मामुष्णतरैः स्वकीयकिरणैश्चण्डालवद् बाधसे ।।

नाटकों में गानों की आवश्यकता से कदाचित् वही परिचित न होगा जिसने या तो किसी अभिनय का अवलोकन न किया हो या किसी अभिनय के आयोजन में सहयोग न दिया हो। प्राचीन नाटकों के अभिनय के अवसर पर इस गान का समावेश गीतगोविन्द या अन्य किसी गान काव्य से किया जाता है। कुशल नाटककार होने के कारण आपने (श्री महामहोपाध्यायजी ने) अपने प्रत्येक नाटक में दो-तीन गीत काव्य लिखकर उसके सौन्दर्य का कितना संवर्धन किया है, यह एक भुक्तभोगी ही, सफल सूत्रधार (डाइरेक्टर) ही बता सकता है। हम इन गीत काव्यों की सरसता प्रदर्शन के लिये दो एक उदाहरण उद्धृत करने का प्रयास करेंगे।

वीरप्रताप में योगिनी के गान में कितनी सरसता है, उसके प्रत्येक पदों में कितनी स्फूर्तिदायिनी शक्ति है—

इसका अवलोकन कीजियेः—

हर हर जय जय देव ।
जय प्रताप जय भारतभूषण जय वसुधाधिप देव ।
जय जय धर्ममार्ग परिरक्षक जय मर्यादा भूप ॥
जय शिशोदिया वंशविभूषण जय हरिहर प्रतिरूप ।
जय यवनाधिप मानविमर्दक जय जय विजय महेश ॥
जय तुरुष्क सेनापति मर्दक जय करवाल सुरेश ।
जय जय मान नगर विध्वंसक जय राजक तारेश ॥
जय जय मान मान विच्छेदक जय मेवाड़ नरेश ।
जय संधौ तुरुष्क संप्रार्थित जय सच्चरित दिनेश ॥
जय नरपते स्वतन्त्र धराधिप जय जय जित यवनेश ।

वीरप्रतापे सप्तमे अङ्के ।

भारतीयों की धमनियों में रक्त का सञ्चार करने वाला भारत विजय के एक गीत का उल्लेख यहाँ पर अनुपयुक्त न होगा ।

वीरा मा जहीत रणरङ्गम् ॥
लक्ष्मीनानारावमहीपतितांत्यालसितसदङ्गम् ।
शोषयतार्यदेशसम्भूता रिपुगणमनस्तरङ्गम् ॥
वितनुत भारतजननीतनया वैरिवाहिनीभङ्गम् ।
अजरममरमवगत्य जीवमथ यात न कातरसङ्गम् ॥
नाशयतान्धकरिपुमिव शूरा द्विपतस्त्वरितमनङ्गम् ।
स्वकदेशतः सर्वगोरण्डान् निष्काशयताऽऽवङ्गम ॥

भारतविजये पञ्चमे अङ्के ।

भक्त सुदर्शन के तृतीय अंक का एक गाना और सुनिये—

जय जय मातर्जय जय मातर्जय तारिणि जगदम्बे दुर्गे
जय मातर्जय जय दुर्गे जयकारिणि जय दुर्गे ॥

शुम्भ निशुम्भ विदारिणि दानवसंहारिणि जय दुर्गे।
मा मा मा मा जय जय जय जय भयहारिणि जय दुर्गे ॥
ब्रह्मानन्दरते जय दुर्गे मातर्जगदवलम्बे दुर्गे।
लोकातीते मुनिजनगीते शिवशालिनि जय दुर्गे ॥

कवि अपनी कृति का वही फल चाहता है, जिस उद्देश्य से वह रचना करने में प्रवृत्त होता है। इसकी (अपने उद्देश्य की) अभिव्यक्ति भरतवाक्य में करता है। आपने भी इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। भारतविजय में आप लिखते हैं कि—

सर्वे सन्तु निरामयाः सुसुखिनः शस्यैः समृद्धा धरा
भूपालाश्च मितव्यया नयविदो दक्षाः प्रजारक्षणे।
विद्वांसो धनपूजिता नवनवाः सम्पादयन्तः कृतीः
भूयासुः पतिपुत्रशौर्यसहिता वीराङ्गना भारते ॥

इस समय संस्कृत के पुनरुद्धार की कितनी आवश्यकता है इससे अवगत होकर जो लोग इसके लिये कितना प्रचार करते हैं यह विवेचनीय हैं। नवीन नवीन मौलिक रचनाओं के लिये कितने प्रोत्साहन की आवश्यकता है, धनी-दानियों के द्वारा कितने 'डालमिया' 'मङ्गला प्रसाद' पारितोषिकों की अपेक्षा है, और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा कितनी सहयोग की आवश्यकता है इसके वारंवार कहने की जरूरत नहीं है। यदि मौलिक संस्कृत लेखकों के विना अवलम्बन विना कर्णधार संस्कृत समुन्नति का स्वप्न देखते रहेंगे, तो यह इसके लिये हित कर न होगा। अतः यदि ये लोग मुक्तहस्त होकर मौलिक संस्कृत लेख को सहयोग करें तो हमारे विचार से वह दिन दूर नहीं जब संस्कृत भाषा भी विश्व में समादृत होकर उच्चासन पा सकेगीं। भगवती जगदम्बिका वह दिन शीघ्र ही लाये यही हमारी प्रार्थना है।

झाँसी
सरस्वतीसदन
वैशाखी २०१०

सदाशिवदीक्षित

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

नट
सुदर्शन
शत्रुजित्
युधाजित्
वीरसेन
सुबाहु (काशीनरेश)
केरल नरेश
कर्णाटक नरेश
मन्त्री (अयोध्या)
मन्त्री (उज्जयिनी)
भरद्वाज
वसुदेव गुरु
सेनापति (अयोध्या)
विदल्ल
लुण्टाक
चर
बटु
कारुक
नगरसेठ
द्वारपाल

स्त्री पात्र

नटी
मनोरमा (सुदर्शन माता)
लीलावती (शत्रुजित् माता)
महाराज्ञी (काशी)
शशिकला
सखी
प्रियंवदा
सुलोचना
जगदम्बा

श्रीः

भक्तसुदर्शननाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

सूत्रधारः—(प्रविश्य)

ताम्बूलप्रतिमा नखक्षतसमा या बिम्बसादृश्यगा,
गुञ्जाप्रान्तमनोहरा ज्वलनभासौन्दर्यधिकारिका ।
बन्धूकद्युतिशासिका शतदलप्रोद्यच्छवेस्तर्जिका,
सा विष्णोश्चरणप्रभा विजयते प्रद्योतयन्ती दिशः ॥१॥

भक्त सुदर्शन नाटक

प्रथम अंक

सूत्रधार—(प्रवेश कर)

(लालिमा में) ताम्बूलकी साक्षात् मूर्ति, नखक्षत की अनुहारिणी, बिम्बफल के सादृश्य की द्योतिका, गुञ्जाफल (घुँघुची) के प्रान्त भागके समान सौन्दर्य शालिनी, पावक की प्रभा की तिरस्कारिणी, बन्धूक (दुपहरिया का फूल) के लावण्य की नियामिका, तथा शतदल (रक्त कमल) के समुद्यत तेज की अपहारिणी भगवान् विष्णु के चरण की शोभा (दशों) दिशाओं को प्रकाशमान करती हुई विजय को प्राप्त हो रही है ॥ १ ॥

क्रीं कृतौ वत्सलरसा भक्तविग्रहहारिणी।
सुदर्शनगृहीताङ्घ्रिराद्या माता जयत्यसौ ॥२॥

नान्द्यन्ते

(मनसि) आः !!

कौमुदीमहोत्सव इवाद्य सर्वतः सुसज्जितं नगरं प्रतीयते, सामाजिकाश्चातिप्रसन्ना राजान इव प्रभातिशययुक्ता विलोक्यन्ते, तत् कतमेन नाटकेन मयोपस्थातव्यम् ?—इति कार्यातिशयान्न स्मरामि, (किंचित्स्मृत्वा) आम् ! ज्ञातम्।

परिषदा आज्ञप्तोऽहम् , यद् विविधनाटकादिनिर्माणप्रसिद्धप्रज्ञेन पाणिनीयसिद्धान्तकौमुदी-मन्दिरप्रवेशनिर्णयाभिधानराजेन्द्रकोशाद्यनेकग्रन्थनिर्मापकेण विद्यावारिधि-महामहोपाध्यायपदवीविभूषितेन पण्डित-

---

'क्रीं' बीज के उच्चारण करने पर वात्सल्य स्वरूप का ग्रहण करने वाली, भक्तों के शरीर (विग्रह) में शक्ति प्रदान करने वाली अथवा भक्तों के प्रति आचरित संग्रामों (विग्रह) का नाश करने वाली अर्थात् भक्तों को संग्राम में विजय प्रदान करने वाली, अथवा अव्यक्तरूप होने पर भी भक्तों के लिये विग्रह-शरीर (व्यक्तरूप) धर कर मोहित करने वाली तथा सुदर्शन के द्वारा गृहीत चरण वाली इस आद्या भगवती की जय जय कार हो रही है। (इस श्लोक में क्रीं, विग्रह और सुदर्शन पदों के प्रयोग करने से भाव्यमान घटनाओं का आभास मिलता है।) ॥ २ ॥

(नान्दी के अन्त में)

कौमुदी महोत्सव के समान आज चारों ओर नगर सुसज्जित प्रतीत होता है। जनता भी अति प्रसन्न राजाओं के समान अत्यन्त प्रभाशालिनी दिखाई पड़ रही है तो आज किस नाटक का अभिनय हमें करना चाहिये-इसका स्मरण कार्यबहुलता से नहीं हो रहा है। (कुछ स्मरण कर) हां, याद आ गई। परिषद् ने हमें आज्ञा दी है कि अनेक नाटक आदि के निर्माण में प्रसिद्ध प्रतिभाशाली, पाणिनीयकौमुदी मन्दिरप्रवेश अभिधानराजेन्द्रकोष आदि विविध ग्रन्थों के निर्माता, विद्यावारिधि एवं महामहोपाध्याय पदवी से विभूषित

मथुराप्रसाददीक्षितेन प्रणीतेन भक्तसुदर्शन-नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि-रिति प्रतिपात्रं विधीयतां यत्नः ।

(सर्वतोऽवलोक्य)

आर्येयं परिषत्सतामुपगता सच्छास्त्रतन्त्रानुगा,
विद्योद्द्योतविभासमानमनसा कालीसमाराधिका ।
ईर्ष्यामत्सरतादिशून्यहृदया सन्मार्गगा सर्वदा,
सेयं कार्यपरीक्षणे विमलधीर्मन्ये प्रसन्ना भवेत् ॥३॥

(पुनर्दिशोऽवलोक्य) आः कथं नु चिरयति नटी ?

(ततः प्रविशति गायन्ती नटी)

पुरिसुत्तमसुगहीओ बुहविबुहसेविआअरणो ।
भारहरज्जाहिवई सुदंसणो सव्वदा जयउ[1] ॥४॥

पण्डित मथुराप्रसाददीक्षित द्वारा विरचित 'भक्त सुदर्शन' नाटक का अभिनय करना है । इस लिये प्रत्येक पात्र को प्रयत्न करना चाहिये । (चारों ओर देख कर)

उत्तम निगम और आगम (तन्त्र) की अनुगामिनी कर्तव्याकर्तव्य-विवेक-शालिनी, तथा विद्या के प्रकाश में प्रकाशमान मन से भगवती काली की समर्थ करने व समाराधना करने वाली ईर्ष्या, मत्सर आदि दोषों से शून्य हृदय वाली तथा सन्मार्ग का अवलम्बन करने वाली यह सज्जनों की सभा है । मैं समझता हूँ विशुद्ध बुद्धि सम्पन्न यह आर्य (कर्तव्याकर्तव्य-विवेकशाली) सज्जनों की सभा मेरे कार्य को परख कर प्रसन्न हो जायगी ॥ ३ ॥

(चारों ओर देखकर) नटी क्यों विलम्ब कर रही है ?

(तदनन्तर गाती हुई नटी प्रवेश करती है) अनेक विद्वान् तथा देवताओं से अनुष्ठित आचरण शाली, एवं विष्णु भगवान् द्वारा गृहीत सुदर्शन की (एतन्नाम विशिष्ट चक्र की) सर्वदा जय हो ।

इस पद्यमें एक अर्थान्तर की भी अभिव्यक्ति होती है—

भगवती जगदम्बिका के उपासक (नवधा भक्ति में चतुर्थ भक्ति 'पाद-सेवनम्' है ।) अनेक विद्वानों के लिये आदर्शमय आचरणशाली तथा पुरुषश्रेष्ठ महर्षि भरद्वाज के द्वारा अवलम्बित भक्त सुदर्शन की सर्वदा जय हो ॥४॥

१. पुरुषोत्तमसुगृहीतो बुधविबुधसेविताचरणः । भारतराज्याधिपतिः सुदर्शनः सर्वदा जयतु ॥

(जवनिकातः सुदर्शनमातामहो वीरसेनः ।) साधु-साधु, सर्वदा जयतु भारतराज्याधिपतिः सुदर्शनः ।

(अपरतः सुदर्शनवैमात्रेयस्य शत्रुजितो मातामहो युधाजित्—) आः कथं नाम मयि जीवति सुदर्शनो राज्याधिपतिर्भविष्यति न मे दौहित्रः शत्रुजित् ?

मम क्रोधाग्निसंभूत-ज्वालालिङ्गनमानसः ।
को नाम भस्मीभवितुं सुदर्शनजयं स्तुते ॥५॥

(नटी चकिता भीतभीतेव सूत्रधारमालिङ्गति ।)

सूत्रधारः—आर्ये ! तवाशंसनं मन्यमानः सुदर्शनमातामहः प्रसन्नः, क्रुद्धः शत्रुजितो मातामहः । मन्ये तौ इत एवागच्छतः ।

(ततः प्रविशति क्रुद्धः शत्रुजिन्मातामहः, भीतभीत इव चकितचकितं तं पश्यन् निष्क्रान्तः सनटीकः सूत्रधारः ।)

(अपरतः सुदर्शनमादाय तन्मातामहेन वीरसेनेन सेनापतिना च सहितो मन्त्री प्रविशति ।)

❀ इति प्रस्तावना ❀

(नेपथ्य में एक ओर से सुदर्शन के नाना वीरसेन) खूब कहा—भारतेश्वर सुदर्शन की जय हो ।

(दूसरी ओर से सुदर्शन के सौतेले नाना तथा शत्रुजित् के नाना युधाजित्)-

आः ! मेरे जीवित रहते कैसे सुदर्शन राजा होगा और मेरा नाती (लड़की का लड़का) शत्रुजित् नहीं । मेरे क्रोध रूपी अग्नि से समुत्पन्न लपट (आलात) के आलिङ्गन का अभिलाषी ऐसा कौन है जो सुदर्शन की जय बोल कर भस्म होना चाहता है ॥ ५ ॥

(चकित होकर डरी-सी नटी सूत्रधार का आलिङ्गन करती है ।)

सूत्रधार—इससे मेरी समझ में तुम्हारे आशीर्वाद की कल्पना कर प्रसन्न सुदर्शन के नाना और क्रुद्ध शत्रुजित् के नाना का प्रवेश होता है । (आश्चर्य के साथ उनको देखकर भयभीत सा सूत्रधार नटी के साथ चला जाता है ।)

(दूसरी ओर से सुदर्शन को लेकर उसके नाना वीरसेन, और सेनापति के साथ मन्त्री का प्रवेश होता है) । इति प्रस्तावना ।

युधाजित्–मन्त्रिन्! कथं शत्रुजितो राज्याधिकारोऽपह्रियते ?

मन्त्री—महाराज! श्रूयते शास्त्रानुसारेण ज्येष्ठपुत्रस्यैवाधिकारो न कनिष्ठस्य। तथैव पुरोहितवसिष्ठेन चाज्ञप्तम्, इति स एव सुदर्शनोऽभिषिच्यते।

युधाजित्—युष्माभिरेव शास्त्रं नाधिगतम्, अहमपि शास्त्रं जानामि।

ब्राह्मणो ज्ञानतो ज्येष्ठः क्षत्रियस्तु बलाधिकः।
वैश्यश्च धनतो ज्ञेयः केवलं जन्मनाऽपरः ॥६॥

मन्त्री—महाराज! इदं बलाधिक्यमन्येन सह तारतम्ये, एकस्यैव पितुः पुत्रयोः कथमिव सैन्यकोशबलाद्याधिक्यं सभाव्यते ?

युधाजित्—मन्त्रिन्! अहं सर्वं जानामि, भवद्भिरुत्कोचेन सुदर्शनमातुः सकाशाद् बहुतरं धनं लब्धम्, अतएव तत्पुत्रस्य समर्थनं क्रियते।

युधाजित्—मन्त्री जी, शत्रुजित् का राज्याधिकार क्यों हर रहे हो ?

मन्त्री—महाराज, शास्त्र के अनुसार यही सुना गया है कि ज्येष्ठ पुत्र का ही राज्य पर अधिकार होता है, कनिष्ठ का नहीं। पुरोहित वशिष्ठ ने ऐसा ही आदेश दिया है। इस लिये सुदर्शन का अभिषेक किया जाता है।

युधाजित्—तुम लोगों ने ही शास्त्र नहीं पढ़ा है, मैं भी शास्त्र जानता हूँ—ब्राह्मण में ज्ञान से, क्षत्रिय में बल से और वैश्य में धन से ज्येष्ठत्व जानना चाहिये, परन्तु शूद्र में केवल जन्म से। यह बात इस आर्ष पद्य से सिद्ध होती है—

"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥" ॥ ६ ॥

मन्त्री—महाराज, दूसरे के साथ तुलना करने पर इस बलाधिक्य का बोध होता है। एक ही पिता के दो पुत्रों में एक का किस प्रकार सैन्यबल, धनबल आदि के आधिक्य की सम्भावना की जा सकती है ?

युधाजित्—मन्त्रिन्, मैं सब कुछ जानता हूँ। सुदर्शन की माता के पास से आप लोगों को बहुत-सा धन मिला है। अत एव उसके पुत्र का समर्थन आप कर रहे हैं।

मन्त्री—महाराज ! वयं स्वामिभक्ता राज्यशुभचिन्तकाश्च ।

युधाजित्—किं विद्वांसोऽपि उत्कोचेन स्वायत्तीकृताः ?

मन्त्री—महाराज ! विद्वांसस्तु निःस्पृहाः सत्यैकपक्षपातिनो भवन्ति ।

किञ्च—न शत्रुजिति मे वैरं न च प्रीतिः सुदर्शने ।
राज्याधिकारे यो युक्तः सोऽस्माभिरभिषिच्यते ॥७॥

अपि च—गुरुवसिष्ठश्च इहैव नगरे तिष्ठति । स चास्मिन् राज्ये राजकुलपुरोहितो निःस्पृहःसत्यवादी पक्षपातशून्यश्च । स चापि पृच्छ्यताम् ।

युधा०—(किञ्चित्क्रुद्धः सन्) सर्वमहमेतत्प्रपञ्चजालं जानामि । किं न श्रुतम्—"वीरभोग्या वसुंधरा" ? ममायं दौहित्रः, मद्बाहुबलेन पालितश्च । अयमेव अयोध्याधिपतिरस्ति । नाहमधिकारमनधिकारं जानामि ।

वीरसेनः—मा वल्गयताम्—

मन्त्री—महाराज, हमलोग स्वामिभक्त और राज्य के शुभचिन्तक हैं ।

युधाजित्—क्या विद्वानों को घूस देकर अपने वश में कर लिया है ?

मन्त्री—महाराज, विद्वान् लोग तो निःस्पृह और एक मात्र सत्य के ही पक्षपाती होते हैं । इसके अतिरिक्त—

न तो शत्रुजित् से मेरा वैर है और न सुदर्शन से मेरा प्रेम । जो राज्य का उपयुक्त अधिकारी है, उसका ही हम अभिषेक कर रहे हैं ॥ ७ ॥

और—

गुरु वशिष्ठ भी यहीं नगर में हैं । वह इस राज्य के राजकुलपुरोहित हैं, निःस्पृह हैं, सत्यवादी हैं और पक्षपात रहित हैं । उनसे भी पूछ लीजिये ।

युधाजित्—(कुछ क्रुद्ध हो कर) मैं इन सब प्रपञ्चों को जानता हूँ । क्या तुमने यह नहीं सुना कि 'वसुन्धरा वीरभोग्या' होती है ? मेरा यह नाती है । मेरी भुजाओं से पालित भी है । यही अयोध्या का राजा है । मैं अधिकार और अनधिकार नहीं जानता ।

वीरसेन—डींग न हाँको ।

रे रे दुर्मद ! मा वृथा निजबलैरौद्धत्यमाचर्यताम्,
राज्यस्याधिपतेः शिशोर्नहि हठाद् भागश्च निह्नूयताम् ।
वीरं बालसुदर्शनाधिकृतये बद्धादरं मानिनं,
मां मत्वाऽतिबलं स्वकीयमनसो गर्वः परित्यज्यताम् ॥८॥

युधा०—(खड्गं स्पृशन् सक्रोधम्) अरे रे क्षत्रियापसद ! वीरमानिन्, पश्य पश्य—

यमाग्नौ त्वां जुहोम्येष सबलं वीरमानिनम् ।
स्वं दौहित्रं च विदधे साकेताधिपतिं हठात् ॥९॥

(सेनापत्यभिमुखं च पश्यन्) सेनापते ! भवतां सैन्यं कमवलम्ब्य योत्स्यते ?

सेनापतिः—समाना प्रीतिरस्माकं द्वयो राजकुमारयोः ।
साकेताधिपतिर्यः स्यात् तदाज्ञाकारिणो वयम् ॥१०॥

अरे दुरभिमानसम्पन्न ! व्यर्थ ही अपने बल के (शक्ति अथवा सैन्य रूप बल के) कारण औद्धत्य का आचरण न करो। राज्य के अधिपति इस बालक के अंश का अपहरण न करो, और बाल सुदर्शन के अधिकार के लिये बद्धकक्ष मुझे वीर मानी और अतिशक्तिशाली मान कर अपने मन से अभिमान का परित्याग कर दो ॥ ८ ॥

धाजित्—(क्रोधपूर्वक तलवार का स्पर्श करते हुए) अरे क्षत्रियाधम वीरम्मन्य ! देखो—

वीराभिमानी तुझे सेना के साथ ही क्षणभर में नाश कर दूँगा और अपने नाती को बलपूर्वक अयोध्याधिपति बना दूँगा ॥ ९ ॥

(सेनापति की ओर देखकर) सेनापति, आपकी सेना किसकी ओर हो कर युद्ध करेगी ?

सेनापति—दोनों ही पुत्रों पर हमारा प्रेम समान है, जो अयोध्या का राजा होगा, हम उसी के ही रक्षक होंगे ॥ १० ॥

युधा०—साधु सेनापते ! साधु । अहं क्षणादेव शत्रुजितमयोध्याधिपतिं विदधामि । (इति कथयन् युद्धाय प्रतिष्ठते ।)

वीरसेनः—रे रे उज्जयिनीपते !

आत्मश्लाघिन् वृथावादं मा कार्षीः सम्मुखे मम ।
पराक्रमन्ते विक्रान्ता भृशं वल्गन्ति कातराः ॥११॥

(वीरसेनोऽपि सुदर्शनरक्षार्थं विदल्लमन्त्रिणं नियुज्य युद्धाय रणभूमिं गच्छति ।)

द्वितीयं दृश्यम्

पटोन्नयनम्

(चिन्ताकुला सुदर्शनमाता मनोरमा प्रविशति ।)

मनोरमा—आः कथं युद्धभूमेर्नाद्यापि कोऽपि समायातः !!!

युधाजित्—बहुत अच्छा, सेनापति ! बहुत अच्छा । मैं क्षण भर में ही शत्रुजित् को अयोध्या का राजा बनाता हूँ । (कहता हुआ युद्ध के लिये चला जाता है) ।

वीरसेन—अरे उज्जयिनी के शासक,

आत्मप्रशंसापरक, मेरे सामने व्यर्थ की बकवाद न करो, क्योंकि वीर लोग पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं और कायर डींग हाँकते हैं ॥ ११ ॥

(वीरसेन भी सुदर्शन की रक्षा के लिये विदल्ल मन्त्री को नियुक्त कर युद्ध के लिये रण भूमि में जाता है ।)

द्वितीय दृश्य

(परदा उठता है ।)

(चिन्ता से व्याकुल सुदर्शन की माता मनोरमा का प्रवेश होता है ।)

मनोरमा—आः, युद्धभूमि से आज भी कोई क्यों नहीं आया ?

द्वारपालः—(प्रविश्य) जेदु जेदु देवी, देवि,जुद्धत्थलाओ चरो सपत्तो[1]।

मनो०—समानय।

चरः—(प्रविश्य) जेदु जेदु देवो[2]।

मनो०—कथय युद्धवृत्तान्तम्। उद्विजते मे चेतः।

चरः—कलिङ्गाहिवइणा[3] तुज्झ पिउणा वीरसेणेण तहा परक्कमिअं जेण सअलावि उज्जइणीराअस्स सेणा मरणभीआ पलाइआ, पुणोजुज्भिउं समागओ उज्जइणीराअस्स सेणावई मारिओ। अह अवरं दट्ठुं पुणो गच्छामि। (इति निर्गच्छति चरः।)

मनो०—(मनसि) न जाने कुतो मे हृदयं वेपते। शम्भो! पुत्रं पितरं च पालय। युद्धे जनके निहते किं करिष्यामि?

द्वारपाल—(प्रवेश कर) महारानी की जय २ हो, युद्धभूमि से चर आया है।

मनोरमा—बुलाओ।

चर—(प्रवेश कर) महारानी की जय जय हो।

मनोरमा—युद्ध के समाचार कहो, मेरा जी घबड़ाता है।

चर—कलिङ्ग के राजा आप के पिता वीरसेन ने ऐसा पराक्रम दिखाया कि उज्जयिनी के राजा की सम्पूर्ण सेना मरने के भय से भाग खड़ी हुई। तदनन्तर युद्ध में आया हुआ उज्जयिनी के राजा का सेनापति मारा गया। इसके अनन्तर और समाचार देखने के लिये फिर जाता हूँ।

(चर जाता है।)

मनोरमा—(मनमें) न जाने मेरा हृदय क्यों काँप रहा है। शम्भो, पुत्र और पिता का पालन करो। युद्ध में पिता के मर जाने पर मैं क्या करूँगी?

---

१. जयतु जयतु देवी, देवि! युद्धस्थलात् चरः संप्राप्तः।

२. जयतु जयतु देवी।

३. कलिङ्गाधिपतिना तव पित्रा वीरसेनेन तथा पराक्रान्तम्, येन सकलाऽपि उज्जयनीराजसेना मरणभीता पलायिता, पुनः योद्धुं समागत उज्जयनीराजस्य सेनापतिः मारितः। अथ अपरं द्रष्टुं पुनर्गच्छामि।

चरः—(पुनः सहसा प्रविश्य) देवि[1] ! णिहओ कलिंगाहिवई वीरसेणो ।

मनो०—हा दैव ! किमिदं जातम्, अतः परं कथं मे सुतस्य रक्षा भविष्यति !

हा तात ! क्व गतो ममैव तनयं रक्षन् ससर्ज स्वकान्
प्राणान् भास्करमण्डलाच्च परतो लीनः परे ब्रह्मणि ।
किं कुर्यां कथमेष मेऽस्ति तनयो रक्ष्यो रिपोः क्रौर्यतः
शौर्यं वा विदधीय वीरवनिता वीराऽस्मि सुक्षत्रिया ॥१२॥

(इति असिं गृहीत्वा रुदती पुत्ररक्षायै सज्जीभवति । किञ्चिद् विमृश्य)

चर ! विदल्लमन्त्रिणमानय ।

चरः—जं आणवेदि[2] । (निष्क्रान्तश्चरः)

मनोरमा—(पुनः शिरस्ताडयन्ती)

चर—(सहसा फिर प्रवेश कर) महारानी कलिङ्गाधिपति वीरसेन मारे गए ।

मनोरमा—हाय दैव !! यह क्या हो गया । इसके अनन्तर मेरे पुत्र की रक्षा किस प्रकार होगी !

हाय पिता !! कहाँ गए । मेरे ही पुत्र की रक्षा करते हुए अपने प्राणों का परित्याग कर आप सूर्य मण्डल से भी आगे परब्रह्म में लीन हो गए । मैं क्या करूँ, और इस अपने पुत्र की रक्षा शत्रु की क्रूरता से किस प्रकार करूँ ? क्या मैं शौर्य का प्रदर्शन करूँ, क्योंकि मैं वीरपत्नी हूँ, वीर हूँ और सद्वंशीय क्षत्रिय हूँ ॥१२॥

(तलवार निकाल कर रोती हुई पुत्र की रक्षा के लिये उद्यत होती है । कुछ सोचकर)

चर ! विदल्ल मन्त्री को बुला लाओ ।

चर—जो आज्ञा । (चला जाता है)

मनोरमा—(फिर सिर पीटती हुई)

---

१. देवि ! निहतः कलिङ्गाधिपतिर्वीरसेनः ।

२. यदाज्ञापयति ।

स्वामी मृतो वनगतो मृगराजघातै-
स्तातो रणे रिपुहतः शयितो नितान्तम् ।
पुत्रस्तु बाल्यवयसैव समश्रितोऽयं
रक्षेयमेनमहमद्य कथं विपक्षात् ॥१३॥

(इति पठन्ती भूमौ लुठन्ती च रोदिति । विदल्लश्चरेण सह प्रविशति)

विदल्लः—चर ! गच्छ, यथेच्छमनुष्ठीयताम् । (चरः निर्गच्छति) देवि ! मा रोदीः । संभावयामि, युधाजित् तव पितरं निहत्य कुमार-हननायापि सत्वरमेवागमिष्यति । परं धैर्यमवलम्बस्व । निश्चीयतां कुमार एव अयोध्याधिपतिर्भविष्यति । यत्, इदं सर्वज्ञकल्पेन वसिष्ठेन उक्तम् ।

मनोरमा—स्वामी मृतो वनगतो मृगराजघातै-
स्तातो रणे रिपुहतः शयितो नितान्तम् ।

शिकार के लिये गए हुए पतिदेव की मृत्यु सिंह के प्रहारों से हो गई है । संग्राम में शत्रु के द्वारा वध को प्राप्त पिता जी सदा के लिये सो गए हैं । यह पुत्र तो बाल्यावस्था से युक्त है । आज मैं शत्रु से इसकी रक्षा किस प्रकार करूँ ! ॥ १३ ॥

(यह पढ़ती हुई भूमि पर लोटती हुई रोती है । विदल्ल का प्रवेश चर के साथ होता है ।)

विदल्ल—(चर से) चर, जाओ और इच्छानुसार काम करो । (चर जाता है) हे महारानी, मत रोइये । ऐसा अनुमान है कि युधाजित् आपके पिता को मार कर कुमार को मारने के लिये शीघ्र ही आते होंगे । इस लिये धैर्य धरिये और यह निश्चय मानिये कि कुमार ही अयोध्या का राजा होगा, क्योंकि यह बात सर्वज्ञ वशिष्ठने कही है ।

मनोरमा—शिकार में गए हुए पतिदेव की मृत्यु सिंह के प्रहारों से हो गई है, संग्राम में शत्रु के द्वारा वध को प्राप्त पिता जी सदा के लिये सो गए हैं, यह

पुत्रस्तु बाल्यवयसैव समाश्रितोऽयं
रक्षेयमेनमहमद्य कथं विपक्षात् ॥

विदल्लः—देवि ! धैर्यमवलम्बस्व । अहमस्य रक्षोपायं कथयामि । त्वया शत्रुजिन्मातुः समीपे गत्वा वक्तव्यम्—"पिता मे संग्रामे निहतः, इति तस्य दर्शनार्थं दाहार्थं च गच्छामि" इति । अहं तावत्कुमारं संकेत-स्थाने निस्सार्य प्रेषयामि त्वामपि रणभूमिस्थानादेव तत्रव प्रेषयिष्यामि ।

मनोरमा—(मनसि सापत्न्यभावं चिन्तयन्ती ।)
(प्रकाशम्)

कथमियं सपत्नी मां गन्तुमाज्ञापयिष्यति ?

विदल्लः—देवि ! मा चिन्तय, साऽतिसरला, सापत्न्यदोषरहिता च ।

मनोरमा—भवान् यथाऽऽज्ञापयति, तथा करोमि । पित्रा त्वमेवास्य शिशो रक्षकत्वेन नियुक्तः ।

विदल्लः—सर्वं संपन्नमेवेत्यवेहि ।

(एकतो मनोरमा तथा कर्तुं निर्गच्छति, अपरतश्च विदल्लः ।)

पुत्र तो बाल्यावस्था से युक्त है । आज मैं शत्रु से इसकी रक्षा किस प्रकार करूँ ॥

विदल्ल—हे महारानी, धीरज धरिये, मैं इसकी रक्षा का उपाय बतलाता हूँ। आप शत्रुजित् की मां के पास जा कर कहिये कि "मेरे पिताजी संग्राम में मारे गए हैं । मैं उन्हें देखने के लिये तथा दाह संस्कार के लिये जाना चाहती हूँ ।" तब तक मैं राजकुमार को निकाल कर संकेत स्थान पर पहुँचा दूँगा और आपको भी संग्राम भूमि से वहीं पहुँचा दूँगा ।

मनोरमा—(मन में सापत्न्य (सौतपन) को सोचती है) (प्रकट रूप में) यह सौत मुझे जाने को कैसे कहेगी ? ।

विदल्ल—हे महारानी, इस बात की चिन्ता न करिये, क्योंकि वह अत्यन्त सीधी है और सौतपन से शून्य भी है ।

मनोरमा—आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही मैं करूँगी, क्यों कि पिताजी ने आपको इस बालक का रक्षक नियुक्त किया किया है ।

विदल्ल—सब ठीकठाक ही समझिये ।

(एक ओर से मनोरमा जाती है और दूसरी ओर से विदल्ल)

तृतीयं दृश्यम्

पटोन्नयनम्

(ततः प्रविशति मनोरमया कुमारेण च सह निर्जनप्रान्ते विदल्लः । अपरतः आदागत्य लुण्टाकौ विदल्लं गृह्णीतः, एकस्तद्धस्तादसिं गृह्णाति ।)

लुण्टाकौ—भद्रे ! सर्वाणि वस्त्राणि आभरणानि च स्वस्याः कुमारस्य च उत्तार्य देहि ।

विदल्लः—अलं कुमाराभरणैर्महार्घकैः सुवाससां च ग्रहणैर्मनोरमे ।

(लुण्टाकः कशया चटाकशब्दं विदधाति ।)

विदल्लः—त्वरस्व मा क्लेशमुपेहि निर्जनं
वनं विलोक्य त्यज पालयात्मजम् ॥१४॥

(लुण्टाकौ सर्वाणि वस्त्राभरणानि गृहीत्वा पुनर्वने प्रविशतः ।)

(विदल्लप्रभृतयः सर्वे एकवसना भूत्वा गच्छन्ति)

तृतीय दृश्य

परदा उठता है ।

(इसके अनन्तर मनोरमा, कुमार के साथ विदल्ल का निर्जन वन में प्रवेश होता है । पीछे से दो डाकू आकर विदल्ल को पकड़ लेते हैं । एक उनके हाथ से तलवार खींच लेता है ।)

दोनों डाकू—अरी भली औरत, अपने और इस लड़के के सम्पूर्ण वस्त्र और आभूषण उतार कर दे ।

विदल्ल—हे मनोरमे, इन बहुमूल्य कुमार के आभूषणों से तथा वस्त्रों से कोई लाभ नहीं है ।

(डाकू कोड़े से चटाक शब्द करता है ।)

विदल्ल—शीघ्रता कीजिये, कष्ट न उठाइये । निर्जन वन को देखकर इन्हें छोड़ दीजिये और अपने पुत्र का पालन कीजिये ॥ १४ ॥

(डाकू वस्त्र और आभूषणों को लेकर फिर वन में चले जाते हैं । विदल्ल आदि सब के पास केवल एक २ वस्त्र रह जाता है । वे सब दूसरी ओर जाते हैं)

मनोरमा—विदल्ल ! किमिदं जातम् ? अतिकठिनमेतद् विधेर्दुर्विलसितम् ।

विदल्लः—इदमेव धैर्यपरीक्षास्थानम् , यदेव भगवता विधात्रा क्रियते तदेव शुभाय भवति । इदमपि शुभायैव भगवता विहितम् ।

मनोरमा—हा दैव ! किञ्चिदपि लुण्टाकाभ्यां नावशेषितम् , कथमेनं सुतं रक्षयिष्यामि !!

विदल्लः—देवि ! धैर्यमवलम्बस्व, नातिदूरे भरद्वाजमुनेराश्रमः, तन्मुनेरेवाश्रयेण कुमारं रक्षयिष्यामि ।

पश्य—यतः सुगन्धः समुपैति पावकध्वजोऽन्तरिक्षे यमुनेव राजते ।
छात्रनिर्वटूनामपि साधु बुध्यते मतो भरद्वाजमुनेः स आश्रमः १५

मनोरमा-(किञ्चित् कोलाहलं श्रुत्वा) मन्त्रिन्! कुतोऽयमपरः कोलाहलः?

विदल्लः—(पृष्ठतोऽवलोक्य) आः, मन्ये युधाजिदाज्ञप्ता मन्त्रिगुप्तचरप्रभृतयस्त्वच्छोधनार्थमागच्छन्ति ।

मनोरमा—विदल्ल यह क्या हो गया ? विधाता का यह दुर्विलास अत्यन्त कठिन है ।

विदल्ल—ऐसे ही स्थलों पर धैर्य की परीक्षा होती है । भगवान् जो कुछ करते हैं वह सब शुभ ही के लिये होता है । भगवान् ने शुभ सम्पादन के लिये ही इसे किया है ।

मनोरमा—हाय दैव, डाकुओंने कुछ भी नहीं छोड़ा, इस बच्चे की रक्षा कैसे करूँगी !!

विदल्ल—हे महारानी ! धीरज धरिये, निकट ही भरद्वाज मुनि का आश्रम है । उस मुनि के आश्रय में रह कर कुमार की रक्षा करेंगे ।

देखिये—

जहाँ से सुगन्धि आरही है, जहाँ पर आकाश में धूम यमुना के सदृश शोभित होता है, जहाँ पर विद्यार्थियों की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है, मेरी समझ में वही भरद्वाज मुनि का आश्रम है ॥ १५ ॥

मनोरमा—(कुछ कोलाहल सुनकर) मन्त्रीजी, यह दूसरा कोलाहल कहाँसे है ?

विदल्ल—(पीछे की ओर देखकर) आ ! मेरी समझ में युधाजित् से आदिष्ट मन्त्री, गुप्तचर इत्यादि आप के अन्वेषण के लिये आये हैं ।

मनोरमा—हा दैव !

स्वामी मृतो मे जनकोऽपि घातितो
वनेऽतिघोरे प्रपलायनं भिया ।
विलुण्ठनं तस्करराजकारितं
ततः परं ब्रूहि किमिच्छसि प्रभो ? ॥१६॥

विदल्लः—देवि ! धैर्यमवलम्बस्व । बालकं वक्षसा क्रोडीकृत्य द्रुततरमनेनैव पथा याहि । अहमेतान् प्रतार्य भवत्या अनुपदमेवागच्छामि ।

(मनोरमा तथा कृत्वा मुनेराश्रमं प्रविशति । ततः प्रविशति युधाजिन्मन्त्री) ।

युधाजिन्मन्त्री—विदल्ल ! भवान् कथमिह तिष्ठति ?

विदल्लः—मन्त्रिन् ! इदं तु भवतां विदितमेव, यत्कुमारसहिता मनोरमा कुत्रचिन्निर्गता । अहं तस्याः शोधनार्थं ग्रहणार्थं च इह पर्यटामि ।

मन्त्री—किं कश्चित्तस्या गतिविधिरुपलब्धः ?

विदल्लः—गतिविधिस्तु नोपलब्धः, परमन्विष्यते । यदि सोपलब्धा

मनोरमा—हाय दैव. मेरे पतिदेव मर गए पिता जी भी मारे गए, भय के कारण अति भयानक बन में भाग आए यहाँ पर डाकुओं के द्वारा लूटे गए, हे प्रभो ! अब इसके आगे क्या करना चाहते हो तो बताओ ॥ १६ ॥

विदल्ल—हे महारानी, धीरज धरिये । बालक को गोद में लेकर इस मार्ग से शीघ्र ही चली जाइये । मैं इन लोगों को धोखा देकर आपके पीछे अभी आता हूँ।

(बालक को गोद में ऐसा करके मनोरमा मुनिके आश्रम में प्रवेश करती है । तदनन्तर युधाजित् का मन्त्री प्रवेश करता है ।)

युधाजित् का मन्त्री—विदल्ल, आप यहाँ कैसे ?

विदल्ल—मन्त्री जी, यह तो आपको विदित ही है कि कुमार के साथ मनोरमा कहीं भाग गई है । उसके अन्वेषण के लिये तथा ग्रहण के लिये मैं यहाँ पर घूम रहा हूँ ।

यु० मन्त्री—क्या उसका कुछ पता लगा ?

विदल्ल—पता तो नहीं लगा, पर अन्वेषण कर रहा हूँ । यदि वह मिल

स्यात्, तदा सपुत्रां तां युधाजित्समीपे प्रापय्य बहुतरं पारितोषिकं प्राप्स्यामीति मन्ये।

मन्त्री—अवश्यम्। परमियं का आसीत्?

विदल्लः—(सोपेक्षम्) इयं तु मलिनवसना भिल्लराजदुहिता। बहुतरं पृष्टा न किञ्चिदुक्तवती।

मन्त्री—सा तु—

आत्मघातं कृतवती दुःखाद् दुःखतरं गता।
मन्येऽन्यथा क्व याता स्यात् क्वचिन्नैवोपलभ्यते ॥१७॥

विदल्लः—संभाव्यते चैतत्, परं पुत्रस्नेहान्नैवं करिष्यते। अपि च कुमारः क्व गतः? अस्तु। त्वं तावत् पूर्वस्यां दिशि अनुसन्धेहि। अहमेनां भिल्लिनीमेवानुसृत्य प्रतिशोधयामि।

मन्त्री—तथाऽस्तु।

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीमहामहोपाध्याय-मथुराप्रसादकृतौ भक्तसुदर्शन-
नाटके प्रथमोऽङ्कः।

गई तो मेरा विचार है कि पुत्र सहित उसे युधाजित् के समीप पहुँचा कर बहुत सा पारितोषिक (इनाम) प्राप्त करूँ।

मन्त्री—अवश्य, पर यह कौन थी?

विदल्ल—(उपेक्षा के साथ) यह तो मलिनाम्बर धारिणी भीलराज की कन्या थी। इससे बहुत कुछ पूछा, पर इसने कुछ न कहा।

यु० मन्त्री—उसने तो—

मेरी समझ में दुःख पर दुःख आ पड़ने से आत्महत्या कर ली है, नहीं तो वह कहीं चली जाती। कहीं भी तो नहीं मिल रही है॥ १७॥

विदल्ल—यह हो सकता है। परन्तु पुत्रप्रेम से वह ऐसा न करेगी। और कुमार कहाँ गया। अच्छा, अब तुम तो उसका पता पूर्व दिशा में जाकर लगाओ और मैं इस भीलनी के पीछे जाकर उसका पता लगाता हूँ।

मन्त्री—बहुत अच्छा। [सब चले जाते हैं]

इति श्री महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाददीक्षित के द्वारा विरचित
भक्त सुदर्शन नाटक का प्रथम अंक समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति आसने आसीनस्य भरद्वाजस्य समीपे कुमारमनोरमाभ्यां सहितो विदल्लः)

विदल्लः—महाराज ! इयम अयोध्याधिपतेर्महिषी। अयं च तस्य कुमारः, भवन्तं शरणमागतौ, एनौ रक्ष। (सर्वे चरणयोर्निपतन्ति)।

भरद्वाजः—कथमिमां दशामधिगता ?

विदल्लः—किं कथयेयम् ? विधेर्विलसितमेतत्सर्वमित्येतदेवावगच्छ। भवन्तः शरणागतरक्षकाः–इत्यतः परं वयं सर्वे निर्भयाः स्मः।

भरद्वाजः—बहुतरं श्रोतुं मे कुतूहलम्। भवतां नैव कुतोऽपि भयमिति परं किञ्चिदितिवृत्तं कथय।

विदल्लः—शृणु। पूर्वं मृगयायै गतोऽस्याः पतिर्व्याघ्रेण हतः। ततो मन्त्रिप्रभृतिभिर्ज्येष्ठत्वादस्याः सुतो राज्येऽभिषक्तुमानीतः। परमस्य

द्वितीय अंक

[इसके अनन्तर आसन पर बैठे हुए भरद्वाज के समीप कुमार और मनोरमा के सहित विदल्ल का प्रवेश होता है।]

विदल्ल—महाराज, यह अयोध्यानरेश की महारानी हैं और यह उनका बालक। ये दोनों आपके शरण में आए हैं। इनकी रक्षा कीजिये। (सब चरणों पर गिरते हैं।)

भरद्वाज—इसकी यह दशा कैसे हुई ?

विदल्ल—क्या कहें ! यह सब विधाता का खेल है यही जानिये। आप शरणागत के रक्षक हैं–इस लिये हम सब निर्भय हैं।

भरद्वाज—बहुत कुछ सुनने की अभिलाषा है। यह जानिये कि आप का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। पर कुछ समाचार तो कहो।

विदल्ल—सुनिये, पहले शिकार खेलने के लिये गए हुए इसके पति को बाघ ने मार डाला। इसके अनन्तर ज्येष्ठ होने के कारण इसके पुत्र का राज्याभिषेक

वैमात्रेयभ्रातुर्मातामहो युधाजिद् उज्जयिनीपतिः स्वं दौहित्रमभिषेक्तुं संप्राप्तः।

भरद्वाजः—परममदोद्धतः उज्जयिनीपतिरिति मयाऽपि श्रुतम्। ततस्ततः।

विदल्लः—अथैतं वृत्तान्तमवगत्य अस्य साहाय्यार्थमस्यापि मातामहः समागतः, पुनरुभयोर्युद्धमभूत्। परमस्य मातामहो विजयमानोऽपि दैवात्तेन हतः। अथाहं यथाकथंचिदेनं कुमारम् इमां देवीं च निष्कास्य समागतः। मार्गे भिल्लैर्लुण्ठिताश्च वयम्। मन्ये अनुपदमेव कुमारं शोधयन् उज्जयिनीपतिरपि समागमिष्यति।

भरद्वाजः—भयशून्यमिदं स्थानं मत्वा स्वच्छन्दमाचर।

प्रापयिष्यन्ति बटवः फलानि च जलानि ॥१॥

(ततः श्रूयते कोलाहलशब्दः)

मनोरमा—(सचकितं भयत्रस्ता ऋषेः पादयोः पतति) महाराज! त्रायस्व-त्रायस्व इमं वत्सम् (इत्युद्विग्ना रोदिति।)

मन्त्री इत्यादि ने कर दिया। परन्तु अपने नाती का अभिषेक करने के लिये तथा इसे उतारने के लिये इसके सौतेले भाई के नाना उज्जयिनी-नरेश युधाजित् आए।

भरद्वाज—मैंने भी यह सुना है कि उज्जयिनी अत्यन्त मदोद्धत हैं। फिर।

विदल्ल—इसके अनन्तर इस वृत्तान्त को जानकर इसके नाना भी इसकी सहायता के लिये आए। फिर दोनों का युद्ध हुआ। परन्तु जय को प्राप्त करते हुए भी इसके नाना को इसने मार डाला। तदनन्तर किसी भाँति इस कुमार को तथा इस महारानी को निकाल कर मैं यहाँ आ सका हूँ। मार्ग में भीलों ने हम लोगों को लूट लिया। मेरी समझ में कुमार का पीछा करते हुए उज्जयिनी नरेश भी आते ही होंगे।

भरद्वाज—इस स्थान को भय-रहित जानकर तुम लोग स्वच्छन्द विचरण करो। विद्यार्थी तुम लोगों के लिये फल और जल ला देंगे॥ १ ॥

(तदनन्तर कोलाहल सुनाई पड़ता है। चकित होकर भयभीत मनोरमा ऋषि के पैरों पर पड़ती है।)

मनोरमा—महाराज, इस बच्चे को बचाओ, बचाओ। (उद्विग्न हो रोती है।)

भरद्वाजः—पुत्रि ! मा उद्विजस्व ।

विदल्लः—(सोद्वेगम्) महाराज ! माम् अनुजानीहि । अहं गत्वा विश्वासमुत्पाद्य गुप्तचरकार्यं संपादयिष्यामि । यथावसरमस्य कुमारस्यानुकूल्यं च चरिष्यामि ।

भरद्वाजः—गच्छ । यथेच्छं विधेहि । नानयोः किञ्चिदपि भयम् । इमौ सुरक्षितौ स्तः । (ततो निष्क्रामति विदल्लः । मनोरमा कुमारश्च अन्तर्हितौ तिष्ठतः । युधाजिन्मन्त्री प्रविश्य प्रणम्य च आसने उपविशति ।)

मन्त्री—महाराज ! श्रूयते सुदर्शनकुमारसहिता अयोध्याधिपतेर्मनोरमानाम्नी धर्मपत्नी भवत आश्रमे तिष्ठति ।

भरद्वाजः—सत्यम्, तेन सहिता अस्ति ममाश्रमे ।

मन्त्री—तर्हि समर्प्येताम् ।

भरद्वाजः—तौ शरणं गतौ, सर्वथा मया रक्षणीयौ एव ।

मन्त्री—महाराज ! उज्जयिनीपतिराज्ञापयति इति भवता दातव्यौ एव ।

भरद्वाज—पुत्री, मत घबड़ाओ ।

विदल्ल—(घबड़ाहट के साथ) महाराज, मुझे जाने की अनुमति दीजिये । जा कर, विश्वास पैदा कर मैं गुप्तचर का कार्य करूंगा, और अवसर पड़ने पर कुमार के अनुकूल आचरण करूंगा ।

भरद्वाज—जाओ, जो चाहो सो करो, इन दोनों को किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं है । ये सुरक्षित हैं ।

[तदनन्तर विदल्ल चला जाता है और मनोरमा और कुमार छिप जाते हैं । युधाजित् का मन्त्री आकर और प्रणामकर आसन पर बैठता है ।]

मन्त्री—महाराज, सुना है कि अयोध्या नरेश की मनोरमा नामक स्त्री सुदर्शन कुमार के साथ आपके आश्रम में हैं ।

भरद्वाज—सच है कि वह उसके सहित हमारे आश्रम में है ।

मन्त्री—तो उन्हें दे दीजिये ।

भरद्वाज—वे दोनों हमारे शरणागत हैं, उनकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ।

मन्त्री—महाराज, उज्जयिनी नरेश आदेश देते हैं—इसलिये आपको उन्हें दे देना चाहिये ।

भरद्वाजः—सर्वमहं ते गूढाभिसन्धिं जानामि, यत् उज्जयिनीपतिः तौ गृहीत्वा निहत्य च निष्कण्टकं साकेतराज्यं स्वं दौहित्रमुपभोजयितुमभिलषति ।

मन्त्री—भवतां किमत्र ? मा परिपन्थिनो भवन्तु भवन्तः ।

भरद्वाजः—मया उक्तमेव पूर्वम् । तौ शरणागतौ, सर्वथा मया रक्षणीयौ एव ।

मन्त्री—पश्य (साटोपम्)

राज्ञो भ्रूभङ्गिसंज्ञामनुसरति सदा वाहिनी क्षत्रियाणां
सा हत्वा चान्तरायं सकलमपि जगत् तौ ग्रहीष्यत्यवश्यम् ।
त्वं तु श्रुत्वैव शब्दानहमहमिकया भाषितान् श्वभ्रलीनो
दीनः प्राणैर्विहीनः शमनगृहमितो यास्यसि ज्ञेयमेतत् ॥२॥

भरद्वाज—मैं तुम्हारा सब गूढाशय समझता हूँ । उज्जयिनी नरेश चाहते हैं कि उन दोनों को पकड़ कर मरवा डालें जिससे कि उनका नाती अयोध्या का निष्कंटक राज्य कर सके ?

मन्त्री—आपको इससे क्या ? आप इसके बीच में मत पड़िये ।

भरद्वाज—मैंने पहले ही कह दिया है कि वे हमारे शरण में आए है, अतः मुझे सर्वथा उनकी रक्षा करनी चाहिये ।

मन्त्री—देखो, (गर्व के साथ)

राजा की भ्रूभङ्गी के संकेत का अनुसरण क्षत्रियों की सेना सदा किया करती है,अत एव विघ्नस्वरूप सम्पूर्ण जगत का भी नाश कर उन दोनों को अवश्य ही पकड़ लेगी । और तुम तो ज्यों ही 'हम हम' इस प्रकार प्रतिस्पर्धा से कहे गए शब्दों को सुनोगे, त्यों ही तुम किसी गड्ढे में छिप कर दीनावस्था को प्राप्त होगे, और प्राणों से रहित होकर यहाँ से यमराज के घर चले जाओगे—यह तुमको जान लेना चाहिये ॥ २ ॥

भरद्वाजः—(स्मित्वा) किमिदं प्रलपसि । मन्ये, स्वं बलिनं मत्वा मदोद्धतः संजातः ।

पश्य—जमदग्निसुतेनैव ससैन्यो हैहयो हतः ।
तस्यैव मार्गानुगतो भवानपि भविष्यति ॥३॥

मन्त्री—मुने ! अलं बहु वल्गितेन ।

अग्निं तर्पय कन्दमूलकफलं भुक्त्वाऽऽत्मतोषं वहेः,
प्राणान् पालय किं वृथा क्षितिभृतां मार्गः समाश्रीयते ।
नो चेत् द्रक्ष्यसि विप्र शिष्यकगणैर्युक्तो निबद्धः क्षितौ
लुण्ठन् गाढतृषार्दितोऽतिकरुणं भूयोऽनुयाचिष्यते ॥४॥

भरद्वाजः—(मनसि) बहुतरमयं तिरस्कुरुते । किमेनं कटुवचनस्य फलं भोजयेयम् । अथवा अज्ञोऽयम्, स्वभावतो वाचाट इति मत्वा

भरद्वाज—(मुसकरा कर) यह क्या बकते हो ? मालूम पड़ता है कि अपने को शक्तिशाली समझ कर मदोद्धत होगए हो । देखो—

अकेले परशुराम ने सेना सहित कार्तवीर्य का नाश कर डाला था, आप भी उसी मार्ग के अनुगामी होंगे, (अर्थात् एकाकी मैं आपकी सम्पूर्ण सेना का नाश कर तुम्हारे राजा को यमका अतिथि बना दूंगा ।) ॥ ३ ॥

मन्त्री—हे मुनि, बहुत डींग न हांको ।

तुम तो हवन करो, कन्द मूल और फल खा कर आत्म सन्तुष्टि के साथ अपने प्राणों का पालन करो, व्यर्थ ही क्यों राजाओं के मार्ग का अवलंबन करते हो ? यदि ऐसा न करोगे तो देख लेना कि ब्राह्मण ! शिष्यों के साथ बाँध दिये जाओगे और भूख प्यास से पीडित होकर पृथ्वी पर लोटते हुए अत्यन्त दीनता के साथ प्रार्थना करते दिखाई पड़ोगे ॥ ४ ॥

भरद्वाज (मन में)—यह बहुत अधिक तिरस्कार कर रहा है । क्या इसे कटु वचनों का फल चखा दें, अथवा यह नासमझ है, स्वभाव से वाचाल है—

त्यजेयम्। (पुनस्तदुन्मुखं पश्यन्)

(प्रकाशम्)

अतिश्वीं वृत्तिमाश्रित्य गर्वोऽयं क्रियते कथम्।
विश्वामित्रो वशिष्ठश्च मूढ किं न त्वया श्रुतौ ॥५॥

मन्त्री—(इतस्ततोऽवलोकमानः सानुनयम्।) महाराज ! भवतां तपःप्रभावं तु जानामि, तपसा भवान् सर्वं कर्तुं शक्नोति। परं तु क्षुद्रमिदं कार्यमिति मत्वा मा तपोबलं नाशयतु।

भरद्वाजः—(सक्रोधम्) अरे मूर्ख ! क्षत्रियापसद ! मया पूर्वमुक्तमेव। यद् "इमौ शरणागतौ, सर्वथा मया रक्षणीयौ"। मम शिक्षणेन अलम्। युष्माकमसदाचारस्य फलं स्वत एव भगवती जगदम्बिका दास्यति। सर्वानपि युष्मान् नाशयिष्यति।

(अङ्गुल्या निर्दिशन्) पश्य तपःप्रभावम्—

केनायं शिक्षितो व्याघ्रो न हि गावं निरीक्षते।
सर्पाश्च पक्षिमण्डूकाः सर्वतः सहचारिणः ॥६॥

यह समझ कर इसे छोड दें। (फिर उसकी ओर देखकर प्रकाश—)

अरे मिथ्याभिमान करने वाले मूर्ख, कुत्ते की वृत्ति का अतिक्रमण करने वाली जीविका का आसरा पकड़ कर यह गर्व क्यों दिखला रहे हो ? क्या तुमने इससे पूर्व वशिष्ठ और विश्वामित्र के नाम नहीं सुने है ? ॥ ५ ॥

मन्त्री—(इधर उधर देखकर विनय के साथ) महाराज, आपके तप के प्रताप को तो जानते हैं। तप से आप सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु इस कार्य को क्षुद्र समझ कर अपने तपोबल का नाश न कीजिये।

भरद्वाज—(क्रोधपूर्वक) अरे मूर्ख, क्षत्रियाधम, मैंने पहले ही कह दिया है कि मेरे शरण में आए हुए इन दोनों की रक्षा सर्वथा करनी है। मुझे मत सिखाओ, तुम लोगों के असत् आचरण का फल भगवती देंगी। वह तुम सब का नाश कर देंगी। (अंगुली से दिखलाते हुए) तप के प्रताप को देखो—

बाघ को किसने सिखाया है कि वह गाय की ओर नहीं ताक रहा है ? और किसके कहने पर सर्प, पक्षी और मेंढक साथ साथ घूम रहे हैं ? ॥ ६ ॥

मन्त्री—महाराज ! इदं तु पश्यामि । परं तपोबलविनाशापेक्षया तत्समर्पणमेव श्रेयः ।

भरद्वाजः—(मनसि) अयम्, आग्रही ।

(प्रकाशम्)

गच्छ यद् विधातव्यं तद् विधेहि । अहं सन्नद्धोऽस्मि । त्वन्तु—

विबोधितो नैव विबोद्धुमीहसे निरीक्षमाणोऽपि नवेक्षसे हृदा ।
मुमूर्षुरेवासि दृढं प्रतीयते यतो विनाशे मतिरेति विक्रियाम् ॥७॥

(मन्त्री प्रणम्य अशृण्वन्निव निर्गच्छति ।)

मन्त्री—(मनसि) किमिदं गोव्याघ्रादिकमैन्द्रजालिककृत्यमिव मिथ्यैव, अथवा सत्यम्? यद् भवतु । सर्वं राज्ञः सविधे निवेदयिष्यामि ।

पटोन्नयनम्

(ततः प्रविशति विदल्लसहितो युधाजिद् राजा ।)

राजा—विदल्ल ! काऽपि मनोरमाया वार्ता उपलब्धा ?

मन्त्री—महाराज ! यह तो जानता हूँ, परन्तु तपोबल के नाश की अपेक्षा उनका दे देना ही श्रेयस्कर है ।

भरद्वाज—(मन में) यह आग्रही है । (प्रकाश) जाओ जो करना हो सो करो । मैं तैयार हूँ, तुम तो—

समझाने पर भी नहीं समझना चाहते, दिखाने पर भी हृदय से नहीं देखना चाहते । अतः निश्चित प्रतीत होता है कि तुम मरणासन्न हो, क्योंकि विनाश के समय बुद्धि में विकार आ जाता है ॥ ७ ॥

(मन्त्री प्रणाम कर सुनी अनसुनी करता हुआ चला जाता है ।)

मन्त्री—(मन में) क्या ये गाय बाघ आदि ऐन्द्रजालिक के तमाशे के समान मिथ्या है, अथवा सत्य ? जो हो सब राजा के आगे कह दूंगा ।

(परदा उठता है)

(इसके अनन्तर विदल्ल के साथ युधाजित् राजा का प्रवेश होता है ।)

राजा—विदल्ल, मनोरमा का कुछ पता चला ।

विदल्लः—सा तु सपुत्रा भरद्वाजमुनेराश्रमे तिष्ठति ।

राजा—किं कुमारः, सा वा दृष्टा ?

विदल्लः—महाराज ! मुनिबालकेभ्यः 'कुमारसहिता मनोरमानाम्नी काऽपि स्त्री समायाते'ति श्रुतम् ।

राजा—तस्या निश्चयार्थं ग्रहणार्थं च मन्त्री प्रेषितः ।

विदल्लः—हठाद् ग्रहणं तु न मे रोचते । यतः कदाचिद् रुष्टः सन् स ऋषिस्तपोबलेन अनिर्वचनीयमाचरेत् ।

(ततः प्रविशति युधाजिन्मन्त्री)

मन्त्री—जयतु जयतु देवः ।

राजा—मन्त्रिन् किमाश्रमे मनोरमा कुमारश्च स्तः ?

मन्त्री—उभावपि स्तः । सामादिपुरःसरं तत्समर्पणार्थं बहूक्तम् । युद्धभयमपि दर्शितम् । परं शरणागतौ मया सर्वथा रक्षणीयौ इत्येव मुनिरुक्तवान् ।

विदल्ल—वह तो अपने पुत्र के साथ भरद्वाज मुनि के आश्रम में है ।

राजा—क्या तुमने कुमार को अथवा उसको देखा है ?

विदल्ल—महाराज, मुनि बालकों से यह सुना है कि 'कुमार के साथ मनोरमा नाम की कोई स्त्री आई है' ।

राजा—इसके निश्चय करने के लिये और उसे लेने के लिये मन्त्री को भेजा है ।

विदल्ल—बलपूर्वक उसका ग्रहण करना तो मुझे भला नहीं प्रतीत होता, क्योंकि क्रुद्ध होकर वह ऋषि महाराज तपोबल से न जाने क्या कर बैठें ।

(तदनन्तर युधाजित् के मन्त्री का प्रवेश होता है ।)

मन्त्री—महाराज की जय जय हो ।

राजा—मन्त्री जी, क्या मनोरमा और कुमार आश्रम में हैं ।

विदल्ल—दोनों ही हैं, साम और भेद के साथ उनके समर्पण के लिये बहुत कुछ कहा, युद्ध भय भी दिखाया, परन्तु मुनि ने यही कहा कि 'इन दोनों शरणागतों की हम रक्षा करेंगे' ।

विदल्लः—(मनसि) हृदय ! समाश्वसिहि, सर्वथा रक्षितौ एव स्तः । (प्रकाशम्) महाराज ! युद्धं तु सर्वथा परिहार्यमेव । पश्य तपःप्रभावम्—

मृदूनि सुस्वादुरसाप्लुतान्यमी फलानि वृक्षा मधुराणि सर्वतः ।
विरोधिनो यान्ति च जन्तवः समम् तपःप्रभावाच्च फलन्ति सर्वदा ॥८॥

(राजा सर्वतो विलोक्य अनुभवन्निव मौनं स्थितः ।)

मन्त्री—महाराज !

गोव्याघ्रं सर्पनकुलं काकोलूकं वृकाखुभुक् ।
क्रीडन्ति तत्र दृश्यन्ते निर्भयाणि सदा समम् ॥९॥

राजा—तर्हि संप्रज्ञातसमाधिमसौ अतिक्रान्तः !!

विदल्लः—महाराज ! उज्जयिनीपते ! तमवलोक्य स्वयमेव भवान् 'सर्वानपि समाधीनतिक्रम्य परामनिर्वचनीयां कोटिमापन्नः' इति निश्चेष्यति।

विदल्ल—(मन में) हृदय ! धीरज धरो, अब वे पूर्णतया रक्षित ही हैं । (प्रकाश) युद्ध तो सर्वथा त्याज्य ही है । तप के प्रभाव को देखिये ।

तप के प्रभाव से इन वृक्षों में मधुर मृदु और सुस्वादु रस से भरे फल फलते हैं, और विरोधी जीव भी द्वेष का परित्याग कर साथ साथ विचरते हैं ॥ ८ ॥

[राजा चारों ओर देखकर पूर्वोक्त का अनुभव-सा करता हुआ मौन रह जाता है ।]

मन्त्री—महाराज,

गाय और शेर, साँप और नेउला, कौआ और उल्लू, हाथी और सिंह निर्भय होकर साथ साथ विचरण करते हुए वहाँ दिखाई पड़ते हैं ॥ ९ ॥

राजा—तो क्या उन्होंने सम्प्रज्ञात समाधि भी पार कर ली है । ('यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिकरोति, सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते'-अर्थात् जिस प्रज्ञासे सद्भूत अर्थका अर्थात् सत्य का उद्योतन होता है, समस्त क्लेशों का नाश होता है, कर्म बन्धन शिथिलता को तथा निरोध की आसन्नता को प्राप्त करते हैं, उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं ।)

विदल्ल—महाराज उज्जयिनीनरेश, उस महापुरुष का अवलोकन कर आप स्वयमेव इसका निश्चय करेंगे कि वह सम्पूर्ण समाधि को पार कर अलौकिक तथा अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त हो गया है । देखिये—

पश्य—शीतलोऽतिमृदुलः सुगन्धयुग् मारुतो वहति दक्षिणः सदा।

(वृक्षान् निर्दिशन्—)

नम्रतामुपगता महीरुहाः शिक्षिता अनुचरा इव स्थिताः ॥१०॥

राजा—विदल्ल ! सर्वं पश्यामि । अत एव दर्शनार्थं मे चेतः समुत्कण्ठते । विदल्ल मार्गमादेशय ।

विदल्लः—इत इतो महाराज ! अनुसरतु भवान् ।

पटोन्नयनम्

(ततः प्रविशति भरद्वाजऋषिः, विदल्लसहितो राजा च तमुपसर्पति । राजा भरद्वाजऋषेः पादयोः पतति ।)

भरद्वाजः—राजन् ! उत्तिष्ठ । (स उत्थाय उपविशति) **कथय अस्ति सर्वं कुशलम् ?**

राजा—भवतां कृपातः सर्वं कुशलमेव । महाराज ! श्रूयते भवतामाश्रमे ध्रुवसन्धेः पत्नी तत्पुत्रश्च तिष्ठतः ।

शीतल, अतिमन्द सुगन्ध सचेत समीर दक्षिण दिशा में सदा बहा करता है। (वृक्षों की ओर संकेत कर) और ये वृक्ष शिक्षित अनुचर के समान अधिगत नम्रता का प्रदर्शन कर रहे हैं ॥ १० ॥

राजा—विदल्ल, सभी कुछ देख रहा हूँ, अतएव उनके दर्शन के लिये हमारी उत्कण्ठा है। विदल्ल ! मार्ग बताओ।

विदल्ल—इधर इधर महाराज ! मेरा अनुसरण कीजिये ।

(परदा उठता है ।

(भरद्वाज ऋषि का प्रवेश होता है, विदल्ल सहित राजा उनके समीप जाते हैं; राजा भरद्वाजऋषि के पैरों पर गिरता है ।)

भरद्वाज—राजन्, उठिये (राजा उठकर बैठ जाता है ।) कहिये, सब कुशल है ।

राजा—आप की कृपा से सब कुशल ही है । महाराज, सुनते हैं कि आपके आश्रम में ध्रुवसन्धि की पत्नी अपने पुत्र के साथ रहती है ।

भरद्वाजः--आम् तिष्ठतः।

राजा—तौ अयोध्यायां प्रेषयितुं भवान् अभिलषति नवा ?

भरद्वाजः--अहं ते गूढाभिसन्धिं जानामि। तौ मया सर्वथा रक्षणीयौ। अथ किं सुदर्शनस्य राज्यं परावर्तयितुं विमलीभवति ते चेतः ?

राजा--नहि नहि, राज्ये यः स्थितः स स्थित एव। नहि कोऽपि तमपनेतुं शक्नोति।

भरद्वाजः--अयोध्याधिपती राजा भविष्यति सुदर्शनः।
इति निश्चित्य मनसा साधु सर्वं समाचर ॥११॥

राजा—महाराज ! सर्वं निश्चित्यैव समाचर्यते। भवताऽपि इदमनुभूयताम्।

वसुन्धरा वीरनरेण भुज्यते सुदर्शनस्तापसवृत्तिमाश्रितः।
क्व राज्यभोगो बलनीतिसंगतः क्व वा तपः कातरमर्त्यसेवितम्॥१२॥

भरद्वाजः--(किञ्चित्स्मित्वा) किं न श्रुतम् ?

भरद्वाज—हाँ रहते हैं।

राजा—उन्हें आप अयोध्या भेजना चाहते हैं या नहीं ?

ऋषि—मैं आपके रहस्य को जानता हूँ। मैं उनकी रक्षा सर्वथा करूंगा, क्या सुदर्शन को राज्य लौटा देने का विचार आपके मन में उठ रहा है ?

राजा—नहीं नहीं, जो राजसिंहासन पर बैठा है वही रहेगा, उसे कोई नहीं हटा सकता।

ऋषि—अयोध्या का राजा सुदर्शन होगा—यह मन में निश्चय करके समुचित आचरण कीजिये ॥ ११ ॥

राजा—महाराज, निश्चय करके ही सब कुछ करते हैं। आप भी इसका अनुभव करें कि—

पृथ्वी पर वीर राज्य किया करते हैं, परन्तु सुदर्शन तपस्वी-जीवन व्यतीत कर रहा है। कहाँ तो छलबल से संयुक्त राज्योपभोग और कहाँ कायर मनुष्य द्वारा सेवित तप का आचरण ! ॥ १२ ॥

ऋषि—(कुछ मुसकराकर)

विश्वामित्रो परं स्वर्गं तपसैव व्यधित्सत ।
च्यवनोऽपि सुखं लेभे तपसा किन्न साध्यते ॥१३॥

राजा—महाराज ! तपसैव यथाऽभिलषितमयं विदधातु । यथेच्छं भवतामाश्रमे उभावपि तिष्ठताम् । अहमेष गच्छामि । (इति प्रणम्य उत्तिष्ठति । ततो निर्गतो राजा विदल्लश्च ।)

(अथ सपुत्रा मनोरमा मुनेः पदं प्रणन्तुं प्रविशति । प्रणम्य उपविशति)

मनोरमा—सम्यग् वयं रक्षिताः, अतः परं निर्भयाः स्मः ।

भरद्वाजः—मया तस्य गूढाभिसन्धिरवगतः, क्रूरोऽसौ । मनसा दुष्टः । सुते !

शृणु—सदौहित्रमिमं नीचं हत्वैव जगदम्बिका ।
अयोध्याधिपतिं नूनं करिष्यति तवात्मजम् ॥१४॥

विश्वामित्र ने तपः-प्रभावसे ही द्वितीय स्वर्ग का निर्माण किया था । च्यवन ने भी तपःप्रताप से ही सुख प्राप्त किया था । तप से कौन-सा पदार्थ सिद्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

राजा—आप तप से अपनी इच्छानुसार अभीष्ट सिद्ध करें । वे दोनों ही स्वतन्त्रतापूर्वक आश्रम में रहें । यह मैं जाता हूँ ।

(प्रणाम करके राजा उठ खड़ा होता है । राजा और विदल्ल चले जाते हैं)

(इसके अनन्तर मुनि को प्रणाम करने के लिये पुत्र सहित मनोरमा का आगमन होता है । वह प्रणाम कर बैठ जाती है ।)

मनोरमा—हम भलीभाँति सुरक्षित हो गए हैं । अब हमें किसी का भय नहीं है ।

ऋषि—मैने उसका अभिप्राय जान लिया है, वह निर्दयी दिल से दुष्ट है । पुत्री सुनो,

नाती सहित इस नीच को मार कर ही भगवती जगदम्बिका तुम्हारे पुत्र को अयोध्या के राज सिंहासन पर बैठायेंगी ॥ १४ ॥

मनोरमा--भवतां कृपातः सर्वं संभाव्यते ।

भरद्वाजः--नहि नहि । इदं निश्चिनोतु भवती, जगदम्बिकाकृपातः सर्वमेव भवति । पश्य भद्रे !

ब्रह्मा विष्णुर्महेशस्त्रिदशपतिरथो वायुरग्निर्दिनेश-
श्चन्द्रस्ताराग्रहाद्याः सकलमपि जगद् भान्ति यस्याः प्रभातः ।
साऽवश्यं ते रिपूणामखिलमपि गणं संगरे ध्वंसयित्वा
साकेते स्थापयित्वा तव तनयमिमं रक्षयिष्यत्यजस्रम् ॥१५॥

मनोरमा—भवतां वचनतः प्रत्ययं करोमि ।

भरद्वाजः--कथानुकथनेन वहुतरः कालः संजातः । इदानीमुष्णतरो वातः सञ्चरति । अतः स्वकुटीं व्रज । छात्रास्तत्रैव त्वां फलानि प्रापयिष्यन्ति । (ततो निर्गच्छति कुमारसहिता मनोरमा ।)

पटीक्षेपः

(मनोरमा कुमारश्च आसीनौ, पुरतः फलानि स्थितानि ।)

मनोरमा—आप की कृपा से सब सम्भावित है ।

ऋषि—नहीं, ऐसा नहीं । आप यह निश्चय रखिये कि भगवती जगदम्बिका की कृपा से सब कुछ होता है । देखिए—

ब्रह्मा विष्णु, शिव, इन्द्र, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह आदि सम्पूर्ण जिसकी कृपासे गतिमान् है, वह भगवती तुम्हारे सम्पूर्ण शत्रुओं के समूह का नाश कर और तुम्हारे पुत्र को अयोध्या के राजसिंहासन पर बिठलाकर, शत्रुओं से रक्षा करेंगी ॥ १५ ॥

मनोरमा—आपके कहने से विश्वास कर लेती हूँ ।

ऋषि—बातचीत में अधिक समय बीत गया है । अब लू चलने लगी है । इस लिये तुम अपनी कुटी में जाओ, विद्यार्थी वहीं तुम्हारे लिये फल ले आयेंगे । [पुत्र के सहित मनोरमा जाती है]

(परदा गिरता है ।)

(परदा उठता है)

(मनोरमा और कुमार बैठे हैं । सामने फल रक्खे हैं ।)

विदल्लः—(प्रविश्य) जयतु जयतु देवी, कुमारश्च।

मनोरमा—मन्त्रिन्, उज्जयिनीपतिरिदानीं क्व गतः ?

विदल्लः—ऋषेस्तपोबलं विलोक्य निराश एव उज्जयिनीं प्रतिनिवृत्तः ऋषिणा सम्यक् स तिरस्कृतः। इदानीं सुनिश्चितमिदम् यद्—वयं सुरक्षिताः स्मः।

मनोरमा—अथ किम् ?

विदल्लः—देवि ! लुण्टाकैर्लुण्टनं कुमाररक्षार्थमेव भगवता कारितम्। अन्यथा त्वामवगत्य सानुचरो युधाजिन्मन्त्री ग्रहीष्यति।

मनोरमा—स कथं परावर्तितः ?

विदल्लः—(किञ्चिद्विहस्य) सोपेक्षं त्वां भिल्लराजदुहितेत्युक्त्वा प्रतारितः, परावर्तितश्च। मलिनवसनत्वात्तेनापि प्रत्ययः कृतः। अतएव मयोच्यते "यदेव भगवता विधात्रा क्रियते तदेव शुभाय"। मलिनवसनताऽपि अस्माकं प्राणरक्षार्थमेव जाता।

विदल्ल—(प्रवेश कर) महारानी और कुमार की जय हो।

मनोरमा—मन्त्री जी, अब उज्जैन नरेश कहाँ गए हैं ?

विदल्ल—ऋषि जी के तपोबल को देखकर निराश ही हो गए हैं। ऋषि जी ने उनका खूब तिरस्कार किया है, अब यह निश्चय जानिये कि हम सुरक्षित हैं।

मनोरमा—और क्या !

विदल्ल—महारानी साहब, भगवान ने लुटेरों से लुटवा कर भी कुमार की रक्षा ही की है, नहीं तो आपको पहचान कर युधाजित् के मंत्री और उसके नौकर आपको पकड़ लेते।

मनोरमा—उसे कैसे लौटाया !

विदल्ल—(कुछ हँसकर) उपेक्षापूर्वक आपको भिल्लराज की कन्या बताकर उसे धोखा देकर लौटा दिया। मैले वस्त्र वाली देखकर उसने भी विश्वास कर लिया। अतएव मैं कहा करता हूँ कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, भला ही करते हैं।' वस्त्रों की मलिनता भी हमारे प्राणों की रक्षिका ही बनी।

मनोरमा—सर्वं शोभनमेव जातम्। अथ च मन्त्रिन् ! त्वामेकं रहस्यं बोधयामि यदद्य मुनिना "सुदर्शनोऽवश्यं साकेताधिपतिर्भविष्य-ती"त्युक्तम्।

विदल्लः—(सहर्षम्) सिद्धं नः समीहितम्। किं न भवत्या श्रुतम् यत् "ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति" इति ?

मनोरमा—मन्त्रिन्! ऋषेः प्रभावात् सर्वं निश्चिनोमि। अहमिदं मन्ये—

असाध्यं नैव किमपि जगदम्बानुकम्पया।
ऋषिरेवोपदेशेन कुमारं बोधयिष्यति ॥१७॥

विदल्लः—देवि ! मां गन्तुमनुजानीहि।

मनोरमा—गच्छ मन्त्रिन्। यथावसरं कुमारकल्याणाय प्रयतितव्यम्।

विदल्लः—अवश्यम्।

मनोरमा—सब भला ही हुआ है। मन्त्री जी, आपको एक रहस्य बतायें। आज मुनिजी ने यह कहा है कि कुमार अयोध्या के नरेश अवश्य होंगे।

विदल्ल—(हर्ष से) हमारे मनोरथ सिद्ध हो गए। क्या आपने यह नहीं सुना है कि—

"आद्य ऋषियों के वचनों के ही अनुकूल इस संसार की व्यवस्था है" अर्थात् वे जैसा कहते हैं वैसे ही वस्तु आप ही बन जाती है।

मनोरमा—मन्त्री जी, ऋषि के प्रभाव से इन सब पर मेरा निश्चय है। मैं तो यह मानती हूँ कि—

श्री माता जी की कृपासे कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है। ऋषि जी के ही उपदेश से कुमार को बोध हो जायगा ॥ १७ ॥

विदल्ल—महारानी जी, मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।

मनोरमा—मन्त्री जी जाइये, अवसर आने पर कुमार के कल्याण के लिये प्रयास कीजियेगा।

विदल्ल—अवश्य।

(पुनः कुमारेण सह निर्गच्छति विदल्लः । बहिः छात्रबटवः विदल्लाभिमुखं क्लीं क्लीं इति कथयन्त उद्दङ्कयन्ति, क्रीडन्ति, हसन्ति च । कुमारस्तत् श्रुत्वा मनसा क्लीं इति अनुस्मरति । प्रतिक्षणं शनैः शनैर्जपति च ।)

(पटीक्षेपः)

(अथ प्रभाते भरद्वाजऋषेर्दर्शनार्थं गच्छति मनोरमा । सहैव शनैः शनैर्मन्त्रं जपन् कुमारश्च गत्वा प्रणम्य चोपविशतः ।)

भरद्वाजः—कुमार ! तव ओष्ठौ चलतः, किं जपसि ?

कुमारः—(सन्निधिमागत्य कर्णे) क्लीं–इति ।

भरद्वाजः—(सुप्रसन्नः सन्) पुत्रि ! पश्य सिद्धं वः समीहितम् । यद् जगदम्बिकया स्वयमेव कुमाराय स्वकीयो मन्त्रो दत्तः । कुमार ! तिथिवार-नक्षत्रयोगकरणैरद्य शुद्धं दिनमस्ति, इत्यनेककोटिजपैस्तपसा च साधितं सिद्धमिमं मन्त्रं त्वामुपदिशामि । अतः परमस्य जपे जगदम्बिका त्वरित-

---

(फिर कुमार के साथ विदल्ल जाता है । बाहर विद्यार्थी बटु विदल्ल से क्लीम् क्लीम् कह कर खेलते हैं, और हँसते हैं । कुमार उसे सुनकर मन से क्लीम् का स्मरण करता है, और प्रतिक्षण धीरे धीरे जपता है ।)

(परदा उठता है)

[प्रातः काल भरद्वाज ऋषि के दर्शन के लिये मनोरमा जाती है, उसके साथ धीरे धीरे मन्त्र जपता हुआ कुमार भी जाता है, वे दोनों जाकर प्रणाम कर बैठ जाते हैं ।

ऋषि—कुमार, तुम्हारे ओठ चलते हैं, क्या जपते हो ?

कुमार—(पास आकर कान में) क्लीं ।

ऋषि—(प्रसन्न होकर) पुत्री, तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो गया, जगदंबा ने अपना मन्त्र स्वयं ही कुमार को बतला दिया है । तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण-आदि से आज शुद्ध दिन है, अतः अनेक कोटि जप से तथा तपसे सिद्ध किये गए इस सिद्ध मन्त्र का तुम्हें उपदेश देता हूँ । इसके जप से जगदम्बिका शीघ्र

मेव सुप्रसन्ना भविष्यति (इति तत्कर्णे उपदिशति । ततः परं तौ सुप्रसन्नौ निर्गच्छतः ।)

पटोन्नयनम्

(स्वकीयकुट्यां स्थितौ परस्परं जल्पतः ।)

कुमारः—मातः! अनिर्वचनीयप्रभावोऽयं मन्त्रः । अस्य जपात् सर्वेऽपि गुरुमुखात् श्रुता वेदार्थाः प्रतिभासन्ते । अस्त्राणां प्रयोगप्रकारोऽपि स्वत एव मनसि परिस्फुरति ।

मनोरमा—सर्वोऽयम् ऋषेरनुकम्पायाः प्रभावः, येन अनुप्राणित इव सिद्धोऽयं मन्त्रो दत्तः ।

कुमारः—अथ किम् । मातः ! ऋषेरुपदेशादहमपि अनेककोटिजपैरिमं मन्त्रं साधयिष्यामि । जगदम्बामातरं च प्रसादयिष्यामि ।

मनोरमा—कुमार ! सत्यसंकल्पो भव ।

पटीक्षेपः

(ततः प्रविशति ऋषेः समीपे शिष्यो बटुः)

शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँगी । (कान में उपदेश देता है । तदनन्तर वे प्रसन्न होकर चले जाते हैं ।)

(परदा उठता है)

(अपनी कुटी में बैठे हुए वे दोनों मनोरमा और कुमार वार्तालाप कर रहे हैं ।)

कुमार—माता जी, यह मन्त्र अनिर्वचनीय प्रभावशाली है । इसके जप से सम्पूर्ण वेदों का अर्थ गुरु के मुख से सुना-सा प्रतीत होता है । शस्त्रों की प्रयोग-विधि भी स्वयं ही मन में आभासित होती है ।

मनोरमा—यह सब ऋषि महाराज की कृपा का प्रभाव है, जिसने इस मंत्र में जान-सी डालकर तुम्हें उपदेश दे दिया है ।

कुमार—और क्या माता जी, ऋषि के उपदेश से मैं भी अनेक कोटि जप से इस मंत्र को सिद्ध करूंगा और माता जगदम्बा को प्रसन्न करूंगा ।

मनोरमा—कुमार, तुम्हारे विचार सच्चे हों ।

(परदा गिरता है ।)

(ऋषि के पास एक बटु छात्र का प्रवेश होता है ।)

बटुः—गुरो ! महाराज ! अद्यत्वे कुमार उन्मत्त इव जातः । स तु—

पश्यन् गच्छन् पठंश्चापि स्मरन् क्रीडन् वदन्नपि ।
सुखासीनः शयानश्च किञ्चिज्जपति सर्वदा ॥१८॥
निरालम्बेऽपि वदति प्रणौति स्तौति मातरम् ।
मातर्मातर्निरीक्षस्वेत्येवं ब्रूते प्रतिक्षणम् ॥१९॥

भरद्वाजः—(स्मित्वा) यदि स्वां मातरमुपास्ते तर्हि किमाश्चर्यम् ?

बटुः—महाराज ! स तु निर्जने निरालम्बे च संलापमिव विधत्ते ।

भरद्वाजः—(मनसि) अहो सिद्धा जगदम्बेत्यनुमीयते ।

(ततः प्रविशति परिहितकवचस्तूणीरं दधानो गृहीतधनुर्बाणः कुमारः । स धनुर्बाणौ निधाय साष्टाङ्गं प्रणमति ।)

भरद्वाजः—कुमार ! इदं सर्वं कुत उपलब्धम् ?

कुमारः—भवतां कृपातः सर्वमिदं जगदम्बया दत्तम् । कवचं परिधाप्य उक्तं च तया—'यथावसरं ते साहाय्यं करिष्यामि' ।

बटु—गुरु महाराज, आजकल कुमार पागल-से हो गए हैं । वह तो—

देखते और चलते, पढ़ते और स्मरण करते, खेलते और बोलते, बैठे और सोते सदा जपा करता है ॥ १८ ॥

वह अकेले ही बात करता है, प्रणाम करता है, माता की स्तुति करता है और प्रतिक्षण यह कहता है कि 'हे माँ ! हे माँ ! मुझे देखो ।' ॥१९॥

ऋषि—(मुसकुराकर) यदि अपनी मां की उपासना करता है, तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

बटु—महाराज ! वह तो निर्जन स्थान में अकेले ही बातें करता है ।

ऋषि—(मनमें—) अहो, मालूम पड़ता है कि जगदम्बा सिद्ध हो गई हैं ।

[तदनन्तर कवच पहिने हुए, तरकस धरे हुए और धनुष बाण लिये हुए कुमार का प्रवेश होता है । वह धनुष बाण धरकर साष्टाङ्ग प्रणाम करता है ।]

ऋषि—कुमार ! यह सब कहां से मिला ?

कुमार—आप की कृपा से यह सब जगदम्बा ने दिया है । कवच पहना कर उन्होंने कहा है कि 'अवसर आने पर मैं तुम्हारी सहायता करूंगी' ।

जगदम्बा भक्तसुदर्शन वाणविना शिवगान

भरद्वाजः—(साश्चर्यं कुमारं पश्यन्) कुमार ! सफलस्ते प्रयासः संजातः । त्वं तु धन्योऽसि, पूज्यानामपि पूजनीयोऽसि, येन जगदम्बा साक्षादिहानीता । यतः पवित्रितमिदमस्माकं स्थानम् ।

(ततः प्रविशति कुमारवृत्तमाकर्ण्य तन्माता मनोरमा । सा ऋषिं प्रणम्य उपविश्य च साश्चर्यं कुमारमवलोकते ।)

भरद्वाजः—भद्रे ! पुत्रि ! दृष्टः कुमारः ?

मनोरमा—महाराज ! सर्वोऽयं तव प्रभावः, नाहमस्य रहस्यमवगच्छामि ।

भरद्वाजः—स्वयं जगदम्बया प्रादुर्भूय अस्मै इदं सर्वं दत्तम्, इति राज्यप्राप्तेः साधनं संपादितम् ।

मनोरमा—भवतां कृपायाः साक्षादिदं फलमुदयते ।

भरद्वाजः—पुत्रि ! आगतं ते दुःखस्य पर्यवसानम् । (कुमारं प्रति-) कुमार !

ऋषि—(आश्चर्य के साथ कुमार को देखकर) कुमार ! तुम्हारा परिश्रम सफल हो गया है । तुम धन्य हो, पूज्यों में भी पूज्य हो, क्योंकि तुम साक्षात् जगदम्बा को यहाँ ले आए हो, जिससे कि हमारा यह आश्रम पवित्र हो गया है ।

[कुमार के वृत्तान्त को सुनकर उसकी माता मनोरमा का प्रवेश होता है । वह ऋषि को प्रणाम कर बैठ जाती है और आश्चर्य के साथ कुमार को देखती है ।]

ऋषि—पुत्री, कुमार को देखा ?

मनोरमा—महाराज ! यह सब आप का प्रभाव है । मैं इसके रहस्य को नहीं जानती ।

ऋषि—स्वयं प्रकट होकर जगदम्बा ने इसे ये सब देकर राज्य प्राप्ति के कारण को सम्पादित कर दिया है ।

मनोरमा—आप की कृपा के फल का साक्षात् उदय हो रहा है ।

ऋषि—हे पुत्री, अब तुम्हारे दुःख की समाप्ति हो आई है । (कुमार को लक्ष्यकर) कुमार !

यदा कार्यमुपेयास्ते मातरं त्वं तदा स्मरेः ।
स्मृतिमात्रादुपगता सर्वं ते साधयिष्यति ॥२०॥

कुमारः—एवमेव विधास्यामि । (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे) (पटीक्षेपः) ।

इति श्रीमहामहोपाध्याय-मथुराप्रसादकृतौ भक्तसुदर्शन-
नाटके द्वितीयोऽङ्कः ।

तृतीयोऽङ्कः

पटोन्नयनम्

(ततः प्रविशति बटुभिः सह कीर्तनं विदधानः करतालं वादयंश्च सुदर्शनः ।)

सुदर्शनः—जय जय मातर्जय जय मातर्जय तारिणि जय दुर्गे ।
दुर्गे मातर्जय जय दुर्गे जयकारिणि जय दुर्गे ॥१॥
(द्विस्त्रारम्)

जब काम आ पड़े तब माता का स्मरण करना, स्मरण करते ही वह आकर तुम्हारे कार्य सिद्ध कर देगी ॥२०॥

कुमार—ऐसा ही करूंगा ।

(सब जाते हैं, परदा गिरता है ।)

इति श्री महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाददीक्षित के द्वारा विरचित
भक्त सुदर्शन नाटक का द्वितीय अंक समाप्त हुआ ।

तृतीय अंक

(परदा उठता है)

[तदनन्तर ब्रह्मचारियों के साथ कीर्तन करता हुआ, तथा करताल बजाता हुआ सुदर्शन आता है ।]

जय जगदम्बे, जय जगदम्बे, जय तारिणि जगदम्बे ।
अम्बे, माता जननी जय जय, जय कारिणि जगदम्बे ॥१॥

शुम्भनिशुम्भविदारिणि दानवसंहारिणि जय दुर्गे ।

(तल्लीन आद्याक्षरमात्रमुच्चरति)

मा मा मा मा जय जय जय जय भयहारिणि जय दुर्गे ॥२॥

ब्रह्मानन्दरते जय मातर्जगदवलम्बे दुर्गे ।

लोकातीते ! मुनिजनगीते ! शिवशालिनि जय दुर्गे ॥३॥

बटवः—सुदर्शन ! अद्य कीर्तने तु परमानन्दो जायते । स्मयमाना साक्षात्स्थितेव माता प्रतिभाति ।

सुदर्शनः—यदा यदा मनसा सर्वैः कीर्तनं विधीयते तदा तदा माता प्रकटीभूय शृणोति ।

एकः बटुः—आम्, आम्, गुरोः श्रुतम्, यद् रामायणं हनुमान् महाभारतं च अश्वत्थामा आगत्य शृणोति ।

अपरः बटुः—मया तु गुरुणा प्ररोचनार्थमेव इदमुच्यते-इत्यवगतम् । परं तु अद्य मातरमवलोक्य तदपि सत्यमेवेति निश्चीयते ।

शुंभ निशुंभ विदारिणि, दानव संहारिणि जगदम्बे ।

(भगवती जगदम्बा के ध्यान में मग्न होकर केवल मा का उच्चारण करता है ।)

मा मा मा मा जय जय जय जय भय हारिणि जगदम्बे ॥ २ ॥

ब्रह्मानन्दरते जय मातर्जगदवलम्बे दुर्गे ।

लोकातीते ! मुनिजनगीते ! शिवशालिनि जय दुर्गे ॥३॥

ब्रह्मचारी—सुदर्शन ! आज कीर्तन में अत्यन्त आनन्द आया, ऐसा मालूम पड़ता था कि साक्षात् भगवती जगदम्बा सामने मुसकुराती हुई खड़ी हो ।

सुदर्शन—जब जब लोग मनसे कीर्तन करते हैं, तब तब जगदम्बा महारानी प्रकट होकर सुनती हैं ।

एक ब्रह्मचारी—हां हां, मैंने भी गुरुजी से सुना है कि आकर हनूमान रामायण सुनते हैं, और अश्वत्थामा महाभारत ।

दूसरा ब्रह्मचारी—मैंने तो यह समझा था कि गुरुजी ने अनुराग संवर्धन के लिये यों ही कह दिया है । परन्तु आज माता का साक्षात्कार कर यही निश्चय होता है कि वह भी सत्य है ।

सुदर्शनः—सर्वं सत्यमेवास्ति, परं मम तु मातुः कीर्तने परमानन्द-प्रवाहः मातुर्दर्शनेन हृत्कमलविकाशश्च जायते, इति पुनः कीर्तयामि।

दुर्गे मातर्जय जय दुर्गे रिपुहारिणि जय दुर्गे ।
जय जय दुर्गे जय जय दुर्गे भवतारिणि जय दुर्गे ॥४॥
योगनिमग्ने जय जय मातः कैटभनाशिनि दुर्गे ।
सर्वातीते सुरबुधगीते सुखशालिनि जय दुर्गे ॥५॥

(ततः सर्वे निर्गच्छन्ति, सुदर्शनः करतालादिकं यथावस्थितं विदधाति। तावदेकः कारुको वर्धकिः प्रविश्य सुदर्शनाय पत्रं ददाति। स तत् पत्रं शनैर्वाचयति।)

सुदर्शनः—(कारुकं पश्यन्) आगच्छ कारुक ! ऋषेः समीपे त्वां नयामि। (एकं बटुं प्रति च-) भो बटो ! मातरमपि तत्रैवोपनय।

बटुः—ओम्।

सुदर्शन—सब सत्य है। पर जगदम्बा के कीर्तन करने में मुझे बड़ा आनन्द आ रहा है, और ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा हृदयकमल विकसित हो गया है। अतः फिर कीर्तन करता हूँ।

दुर्गे मातर्जय जय दुर्गे रिपुहारिणि जय दुर्गे ।
जय जय दुर्गे जय जय दुर्गे भवतारिणि जय दुर्गे ॥४॥
योगनिमग्ने जय जय कैटभनाशिनि दुर्गे ।
सर्वातीते सुरबुधगीते सुखशालिनि जय दुर्गे ॥५॥

[तदनन्तर सब चले जाते हैं, ज्यों ही सुदर्शन करताल इत्यादि को ठीक करता है त्यों ही प्रवेश कर के एक कारीगर बढ़ई सुदर्शन को पत्र देता है। वह उस पत्र को धीरे धीरे बांचता है।]

सुदर्शन—(कारीगर की ओर देखकर) आओ कारीगर, तुम्हें ऋषि महाराज के पास ले चलें। (एक बटु से-) ब्रह्मचारी जी, माताजी को वहीं लिवा लाओ।

ब्रह्मचारी—अच्छा।

पटोन्नयनम्

(तिष्ठति ऋषिः कुशासने, नातिदूरं बटुना सार्धं सुदर्शनस्य माता । कारुणा सह सुदर्शनः समायति, ऋषिं प्रणम्य पत्रं ददाति ।)

भरद्वाजः—(पत्रं गृहीत्वा तूष्णीमवगत्य वाचयित्वा च, सुदर्शनमातरं च लक्षयित्वा च) पुत्रि ! ज्ञातम् ? जगदम्बया (कारुकोन्मुखमङ्गुल्या निर्दिशन्) अनेन रथं निर्माप्य प्रेषितः । एवं सर्वाऽपि युद्धसामग्री सज्जिता । (पुनः कारुकोन्मुखम्) कारुक ! अस्य सारथिः कः ?

कारुकः—महाराय ! सुविणे जगदम्बाए आणा दिन्ना जं—'तुमे रहं णिम्मिय इहेव्व वणे ठियाओ घोडआओ णिओइय अप्पणो पुत्तं सारहिं काऊण सुदंसणसमीवं उवणय त्ति ।' सव्वं संपादिय उवणीयं । अओ परं सुइकिदिं दाऊण अणुगिण्हन्तु भदन्तो ।[1]

परदा उठता है ।

[ऋषि महाराज आसन पर बैठे हैं, समीप में बटु के साथ सुदर्शन की माता बैठी हैं । कारीगर के साथ सुदर्शन आता है, ऋषि को प्रणाम कर पत्र देता है ।]

ऋषि—(पत्र लेकर मनमें बाँच कर तथा समझ कर सुदर्शन की माता को लक्ष्य कर) पुत्री, समझ गए । जगदम्बा ने (कारीगर की ओर अंगुली से लक्ष्य कर) इसके द्वारा एक रथ बनवाकर भेजा है । इस प्रकार युद्ध की सभी तैयारी हो चुकी है । (फिर कारीगर की ओर देखकर) कारीगर, इसका सारथि कौन है ?

कारीगर—महाराज ! स्वप्न में जगदम्बा ने आज्ञा दी कि 'एक रथ का निर्माण कर, और इसी वन में चरते हुए घोड़ों को जोतकर तथा अपने पुत्र को सारथि बना कर सुदर्शन के पास ले जाओ ।' अतः सब कुछ करके ले आया हूँ । अब स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत कीजिये ।

१. महाराज ! स्वप्ने जगदम्बया आज्ञा दत्ता यत्—'त्वं रथं निर्माय इहैव वने स्थितौ घोटकौ नियोज्य आत्मनः पुत्रं सारथिं कृत्वा सुदर्शनसमीपम् उपनय' इति । सर्वं संपाद्य उपनीतम् । अतः परः स्वीकृतिं दत्त्वा अनुगृह्णन्तु भवन्तः ।

भरद्वाजः—गच्छ, कारुक ! सर्वं स्वीकृतम्, (ततो निष्क्रान्तः कारुकः ।) (ऋषिः पत्रं वाचयन्) सुदर्शन ! शृणु अस्य रथस्य प्रभावम् ।

पयोनिधौ पोतसमानरूपधृक् वियत्यसौ विष्णुरथोपमः स्फुटम् ।
प्रकम्पनो भूमिगतः प्रजायते निरुध्यते क्वापि न चास्य सद्गतिः ॥६॥

(सर्वे सुप्रसन्नाः शृण्वन्ति ।)

मनोरमा—महाराज ! किं जगदम्बया स्वयमेवेदमुक्तम् ?

भरद्वाजः—अथ किम् ?

सुदर्शनः—महाराज ! तर्हि अयोध्याया जयाय कदा गन्तव्यम् ?

भरद्वाजः—समयः प्रतीक्ष्यः । स्वयमेव माता संगराय समयं संपादयिष्यति ।

सुदर्शनः—आः गुरो ! पश्य—मम दक्षिणो बाहुः कियता वेगेन स्पन्दते ।

भरद्वाजः—पुत्रि ! पश्य पश्य, दूरत एवास्य बाहोः स्पन्दनं प्रतीयते ।

ऋषि—कारीगर जाओ, सब स्वीकृत है । (कारीगर जाता है । पत्र बाँचता है सुदर्शन की ओर लक्ष्य कर) सुदर्शन ! इस रथ का प्रभाव सुनो—

यह रथ समुद्र में जलयान का रूप धर लेता है, आकाश में पक्षी के समान विचरण करता है, पृथ्वी पर आँधी बन जाता है, इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती ॥ ६ ॥

(सब प्रसन्न होकर सुनते हैं)

मनोरमा—महाराज, क्या जगदम्बा ने स्वयं ही यह कहा है ?

ऋषि—और क्या ?

सुदर्शन—महाराज, तो फिर अयोध्या जीतने के लिये कब जाना चाहिये ?

ऋषि—अवसर की प्रतीक्षा करो, जगदम्बा स्वयं ही संग्राम के लिये अवसर उपस्थित कर देंगी ।

सुदर्शन—गुरुजी, देखिए मेरी दक्षिण भुजा किस वेग से फड़कती है ।

ऋषि—पुत्री, देखो २ दूर से ही इसकी भुजा का फड़कना प्रतीत होता है ।

मनोरमा—(सोद्वेगम्) किमस्य फलं भावि ?

भरद्वाजः—शुभमेवास्य फलम् । अहमेतन्मन्ये, यदेनं काऽपि नृपसुता आत्मनः पतिं वृणुयात् ।

मनोरमा—महाराज ! वयम् अरण्ये आश्रमस्थाः । कथमिदं फलं स्यात् ?

भरद्वाजः—पुत्रि ! जगदम्बाकृपातः किं न संभाव्यते ?

मनोरमा—महाराज ! अद्य मया स्वप्ने दृष्टम्—यत् काऽपि शशिकलेव सुशोभमाना नारी सुदर्शनस्य ललाटे तिलकं विधाय चतुर्दन्ते शुभ्रे गजे आरोहयत् । चतुर्दिक्षु शुभ्रवसनैरयोध्यानिवासिभिर्जनैर्वाद्यानि वाद्यन्ते । तच्छ्रुत्वैव प्रबुद्धाऽस्मि ।

भरद्वाजः—पुत्रि ! निश्चितमेवैतदवगच्छ, यदयं सुदर्शनः अतित्वरितमेव अयोध्याधिपतिर्भविष्यति । समागतं ते दुःखस्य पर्यवसानम् ।

मनोरमा—सर्वमेवैतद् भवतां जगदम्बायाश्च कृपातः संभाव्यते ।

(ततः समातृकः सुदर्शनो निर्गच्छति ।) (पटीक्षेपः)

मनोरमा—(उद्वेग के साथ) इसका क्या फल होगा ?

ऋषि—इसका फल शुभ ही है । हमारी समझ में यह आता है कि कोई न कोई राजकन्या इसे अपना पति चुनेगी ।

मनोरमा—हम वन में रह रहे हैं । हमें यह फल कैसे मिल सकता है ?

ऋषि— पुत्री, जगदम्बा की कृपा से क्या क्या नहीं हो सकता है ?

मनोरमा—महाराज, आज मैंने स्वप्न में यह देखा कि लक्ष्मी के समान एक सुन्दर स्त्री सुदर्शन के मस्तक पर तिलक कर उसे चार दाँत वाले एक श्वेत हाथी पर बैठाती है, और चारो ओर श्वेत वस्त्रों को धारण किये हुए अयोध्या निवासी बाजा बजा रहे हैं, उसे सुनकर नींद खुल गई ।

ऋषि—पुत्री, यह निश्चित ही जानो कि अति शीघ्र ही सुदर्शन अयोध्या का राजा होने वाला है । तुम्हारे दुःखों का अब नाश होने वाला है ।

मनोरमा—आप की कृपा से तथा जगदम्बा की अनुकम्पा से सब कुछ हो सकता है ।

(माता के साथ सुदर्शन जाता है)
(परदा गिरता है)

(द्वितीयं दृश्यम्— पटोन्नयनम्)

(वाराणस्यां निर्जने सखीसहिता शशिकला स्थिता चिन्तयति)

शशिकला—सखि ! ममोद्विजते चेतः, किञ्चिद्विवक्षुरस्मि, परं तु लज्जया बहिर्न निर्गच्छन्त्यक्षराणि ।

सखी—शशिकले ! संभावयामि, केनापि तव हृदयं चोरितम्, परन्तु मत्तः का लज्जा ?

शशिकला—सखि ! सम्यक् त्वयाऽवगतम्, परन्तु तल्लाभस्त्वति-दुष्करः ।

सखी—सर्वं स्फुटं कथय, अहं ते कार्यमवश्यं साधयिष्यामि ।

शशिकला—सखि ! अद्य प्रभाते सिंहवाहिनी जगदम्बिका मम मनश्चौरं कमपि समानीय तत्करे मम करं समगमयत्—'भरद्वाजाश्रम-स्थोऽयं ते पतिः' इत्युक्त्वा अन्तर्हिता चाभवत् । प्रबुद्धाऽस्म्यहं किमपि नापश्यम् ।

सखी—शशिकले ! जगदम्बया विहितमित्यवश्यं सिद्धमेव भविष्यति ।

द्वितीय दृश्य—

[बनारस में सखी के साथ एकान्त में बैठी हुई शशिकला सोच रही है ।]

शशिकला—सखी, मेरा जी घबड़ाता है, कुछ कहना चाहती हूँ, परन्तु लज्जा से अक्षर मुँह से बाहर नहीं निकलते ।

सखी—शशिकला, मेरा अनुमान है कि किसी ने तुम्हारा दिल चुरा लिया है। परन्तु मुझसे लज्जा कैसी ?

शशिकला—सखी, तुमने ठीक समझा, परन्तु उसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है ।

सखी—सब साफ साफ कहो, मैं तुम्हारा कार्य अवश्य करूंगी ।

शशिकला—सखी, आज प्रातःकाल सिंहवाहिनी जगदम्बिका ने किसी मेरे मन के चुराने वाले को लाकर उसको मेरा हाथ पकड़ा दिया । 'तुम्हारा यह पति भरद्वाज के आश्रम में रहता है' यह कह कर अन्तर्हित हो गई । तदनन्तर जाग कर मैंने कुछ भी नहीं देखा ।

सखी—शशिकला, इसे जगदम्बा ने किया है, अतः यह अवश्य सिद्ध ही होगा ।

शशिकला—सखि ! पश्य तत्स्मृत्या सर्वमपि मे शरीरं स्वेदक्लिन्न-मेव संजातम् । आः पश्य, वेपते मे हृदयम् , अत्युद्विजते मनः । चक्षुषो-र्विषयमागता तन्मूर्तिर्न दृष्टिपथादवतरति, सखि ! ऋषेराश्रमस्थ इति किंजातीयः स्यात् ?

(तत आगच्छति परिश्रान्त इव कश्चिद् ब्राह्मणः)

ब्राह्मणः—पुत्रि ! तृषितोऽस्मि, किञ्चिज्जलं देहि ।

शशिकला—(सजलं जलपात्रं ददाति) गृह्णीष्व महाराज !

ब्राह्मणः—(पीत्वा) अतितृषितोऽभवम् । पुत्रि ! स्वाभिलषितं लभस्व ।

सखी—शशिकले ! तृषितस्यास्य ब्राह्मणस्य वरदानमिवाशीर्वचनम्, विप्रदेव ! कुत आगच्छति भवान् ?

ब्राह्मणः—चित्रकूटे भरद्वाजऋषेराश्रमात् ।

सखी—किं तत्रालौकिकं दर्शनीयं चास्ति ?

शशिकला—सखी, देखो । उसके स्मरण से मेरा सम्पूर्ण शरीर पसीना से तर हो गया है, अरे देखो मेरा हृदय काँप रहा है, मन बहुत घबड़ा रहा है, आँखों के सामने आई हुई वह मूर्ति आँखों से ओझल नहीं होती । सखी, ऋषि के आश्रम में रहता है-इस लिये वह किस जाति का होगा ।

[तदनन्तर थका सा एक ब्राह्मण आता है ।]

ब्राह्मण—पुत्री ! प्यासा हूँ, थोड़ा-सा जल दे दो ।

शशिकला—(जल से भरा हुआ लोटा देती है) लीजिये महाराज ।

ब्राह्मण—(पीकर) मैं बहुत प्यासा था, पुत्री, तुम्हारे मनोरथ सिद्ध हो ।

सखी—शशिकला ! प्यासे इस ब्राह्मण का आशीर्वाद वरदान-सा है । ब्राह्मण देवता आप कहाँ से आ रहे हैं ?

ब्राह्मण— चित्रकूट से भरद्वाज मुनि के आश्रम से ।

सखी—क्या वहाँ कुछ अलौकिक दृश्य है ?

ब्राह्मणः—भरद्वाजऋषेस्तपःप्रभावात् गौतमनिवासाच्च चित्रकूटं तीर्थमेव जातम्, परमिदानीम्—

रूपे मनोभवसमोऽतिविशालनेत्र
आजानुबाहुरखिलागमतत्त्ववेत्ता।
दाक्षिण्यसाहसशमादिगुणैरुपेतो
धीरः सुदर्शनवरोऽस्ति सुदर्शनाख्यः ॥७॥

अयोध्याधिपते राज्ञो ध्रुवसन्धेस्तनूद्भवः।
दर्शनीयतमो लोके शौर्यशाली सुदर्शनः ॥८॥

(ततो ब्राह्मणो गन्तुमुत्तिष्ठति। ते प्रणमतः। स चाशिषो दत्त्वा निर्गच्छति।)

शशिकला—सखि! स एवास्ति।

सखी—शशिकले! निर्गतस्ते संशयः?

शशिकला—(स्मित्वा) आम्। सखि! अतः परमधिकतरं कन्दर्पो मां बाधते।

ब्राह्मण—भरद्वाज मुनि के प्रताप से तथा गौतम के निवास से चित्रकूट तीर्थ हो गया है, परन्तु इस समय तो—

वहाँ पर एक सुदर्शन नामक दर्शनीय (अति सुन्दर) धीर वीर है। उसका रूप कामदेव के समान है, इसकी आँखें बड़ी बड़ी हैं, उसके हाथ घुटने तक पहुँच रहे हैं, उसने सम्पूर्ण शास्त्रों के रहस्य को समझ लिया है, और वह सुशीलता, साहस, शान्ति आदि गुणों से समन्वित भी है ॥७॥

अयोध्या नरेश राजा ध्रुवसन्धि का सुपुत्र शूर सुदर्शन राजा संसार में के सुन्दर पुरुषों में सर्वोत्तम है ॥८॥

[तदनन्तर ब्राह्मण जाने के लिये उठ खड़ा होता है। वे दोनों उसे प्रणाम करती हैं, वह आशीर्वाद देकर चला जाता है।]

शशिकला—सखी, वही है।

सखी—राजकुमारी, क्या अब तुम्हारा सन्देह दूर हो गया?

शशिकला—(मुसकुराकर) हां, सखी, अब तो काम मुझे अधिक सताता है।

रे रे पराजयमितो मम जीवनाथात्
विद्रुत्य मां किमु शरैर्विनिहंसि तीक्ष्णैः।
कोऽयं नयो मम धवस्य रणाद्विभीतो
वैरं तु तस्य परिशोधयतेऽबलायाम् ॥९॥

सखी—शशिकले! धैर्यं विधेहि। अतः परं सर्वं संपादितप्रायमेव।

शशिकला—सखि! पश्य, आपदि सुहृदप्यसुहृज्जायते। अयं चन्द्रोऽपि उष्णतरकिरण एव संजातः। मामधिकतरं बाधते।

(तं पश्यन्ती—)

रे रे चन्द्र! पयोनिधेस्तु तनयो बन्धू रमायाः स्मृतः,
शम्भोः शेखरमागतोऽस्यमृतभूस्तारापतिः श्रूयसे।
कृष्णो ब्रह्मपदात्तवान्वयगतस्त्वं विप्रराजोऽपि सन्
किं मामुष्णतरैः स्वकीयकिरणैश्चण्डालवद् बाधसे ॥१०॥

(इति दीर्घतरमुच्छ्वसिति।)

अरे आत्मसम्मान विहीन, कामदेव, मेरे पतिदेव से पराजय पाकर तथा वहाँ से भागकर लज्जा से क्या मुझ पर प्रहार करते हो? यह कौन सी नीति है कि मेरे पतिदेव के संग्राम से डरो, और मुझ अबला पर उनका बदला निकालो॥

सखी—राजकुमारी, धीरज धरो, इसके आगे तो सब सिद्ध-सा है।

शशिकला—सखी, आपत्ति के समय मित्र भी शत्रु बन जाता है, यह चन्द्रमा भी अत्यन्त उष्ण किरणवाला ही हो गया है, यह मुझे बहुत सताता है। (उसको देखकर)—

अरे चन्द्र, तुम समुद्र के सुपुत्र हो, लक्ष्मी के सहोदर हो, शङ्कर के शिर चढ़ने पर तुम सुधादीधिति और तारापति बन गए हो, और ब्रह्मलोक से आकर भगवान् कृष्णचन्द्र के तुम्हारे वंश में जन्म लेने से तुम द्विजराज कहे जाते हो, फिर भी क्यों अपनी अत्यन्त उष्ण किरणों से मुझे कसाई के समान सताते हो।९।

[लंबी लंबी उसासे भरती है]

सखी—शशिकले ! तर्हि सुदर्शनसमीपे स्वाभिमतं प्रेषणीयम् ।

शशिकला—कथम्, केन च ?

सखी—अहं तव गुरुं वृद्धं वसुदेवमाह्वयामि । स विश्वासभूमिः । ततो न निह्नोतव्यं किञ्चिदस्ति ।

शशिकला—सखि ! युक्तम् ।

स हि—गुणज्ञः कार्यकुशलो वाग्मी विश्वासभूरपि ।
सर्वेषां शिक्षको वृद्धो ध्रुवं कार्यं विधास्यति ॥११॥

सखी—त्वं तावत् सुदर्शनाय पत्रं लिख, अहं गत्वा वसुदेवगुरु-माह्वयामि ।

(सखी निर्गत्य वसुदेवमाह्वयति । शशिकला च तालपत्रे कण्टकेन पत्रं लिखति । पुनः सखी आगत्य वक्ति)

सखी—शशिकले ! किं लिखितम् ?

शशिकला—सखि ! स किम् इह आगमनं स्वीकरिष्यति नवेत्युद्विजते मे चेतः । लज्जया च न मे मन उत्सहते ।

सखी—राजकुमारी, तो सुदर्शन के पास अपना मनोरथ भेजना चाहिये ।

शशिकला—कैसे, और किससे ?

सखी—मैं तुम्हारे गुरु पूज्य वसुदेव को बुला लाती हूँ । वह विश्वास पात्र है, उनसे कुछ भी नहीं गोपनीय है ।

शशिकला—सखी, ठीक है । वह वृद्ध तो—

अपनी गुणज्ञता से, कार्य कुशलता से, वाक्-पटुता से, विश्वासपात्रता से, और सम्पूर्ण संसार की शिक्षकता के नाते से अवश्य ही कार्य कर देगा ॥१०॥

सखी—राजकुमारी, तुम तब तक सुदर्शन के लिये पत्र लिखो, मैं जाकर वसुदेव गुरु जी को बुलाती हूँ ।

[सखी बाहर जाकर वसुदेवगुरु को बुलाती है, और शशिकला ताड़पत्र पर कंटक से (एक प्रकार की कलम से) पत्र लिखती है । सखी फिर आकर कहती है]

सखी—सखी शशिकला, क्या लिखा ?

शशिकला—सखी, वह यहाँ आना स्वीकार करेंगे या नहीं, यह सोचकर मेरा मन घबड़ाता है । लज्जा से मेरे मन में उत्साह भी नहीं होता ।

सखी—शशिकले ! जगदम्बया नियोजिताऽसि, अत्र का ते लज्जा ? सा स्वयमेव सर्वं संपादयिष्यति, तं प्रेरयिष्यति च ।

शशिकला—सखि ! तथास्तु । शृणु—अयि प्राणनाथ ! क्षत्रियकुल-शिरोमणे—

मनोभवो मे हृदयं क्षणे क्षणे शिलीमुखैर्मन्दतरं निकृन्तति ।
म्रिये समागत्य वृणीष्व रक्ष मां जगज्जनन्या त्वयि योजिताऽस्म्यहम् १२

अतः परम् अस्माद् वसुदेवगुरोरवगन्तव्यम् ।

सखी—साधु साधु ।

शशिकला—सखि ! पश्य, एष गुरुरागच्छति ।

सखी—(तमाह्वयति) गुरो ! इत आगच्छ, इत आगच्छ ।

गुरुः—(आगत्य) किमाज्ञापयसि ।

सखी—चित्रकूटे भरद्वाजऋषेराश्रमे विद्यमानाय सुदर्शनवर्मणे इदं पत्रं दत्त्वा तथा प्रयतितव्यं यथा स अवश्यमागच्छतु । इदमपि वक्तव्यम्

सखी—सखी शशिकला, जब जगदम्बा ने तुम्हें इस कार्य में लगाया है, तो फिर लज्जा कैसी ? वह स्वयं ही सब कुछ करेंगी, और उसे प्रेरित करेंगी ।

शशिकला—सखी, ऐसा ही सही । सुनो–'हे प्राणनाथ, क्षत्रिय वंशावतंस, कामदेव प्रतिक्षण अपने बाणों से मेरा हृदय धीरे धीरे काट रहा है । मैं मर रही हूँ, आकर मेरा वरण कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये, जगदम्बा ने मुझे तुम्हारे हाथ सौंप दिया है' ।।११।।

इसके आगे हमारे गुरु वसुदेवजी से जानियेगा ।

सखी—खूब, खूब ।

शशिकला—सखी देखो, ये गुरुजी आ रहे हैं ।

सभी—(उनको पुकारती है) गुरु जी, इधर आइये, इधर आइये ।

गुरु—(आकर) क्या आज्ञा है ?

सखी—चित्रकूट पर भरद्वाज ऋषि के आश्रम में सुदर्शन वर्मा रहते हैं, उन्हें यह सब पत्र देकर ऐसा प्रयास कीजियेगा कि वह यहां अवश्य आये और यह भी

यद् 'जगदम्बिकया शशिकला त्वयि नियोजिताऽस्ति' ।

गुरुः—इयं तु मम शिष्या। अवश्यमेतत्कार्यं संपादयिष्यामि। निश्चीयतामेतत् अवश्यमेवाऽहं सुदर्शनमानेष्यामि ।

सखी—भवान् अस्माकं विश्वासभूमिरिति गोपनीयेऽस्मिन् कार्ये नियुज्यते। (इति तस्मै पत्रं ददाति। स पत्रं गृहीत्वा निर्गच्छति ।)

पटोन्नयनम्

(चित्रकूटे ऋषेः समीपे समातृकः सुदर्शनः स्थितः)

भरद्वाजः—सुदर्शन ! किञ्चिद् विवक्षुरिव प्रतिभासि ।

सुदर्शनः—एवमेव अद्य प्रभाते अर्धोन्मीलितनयने मयि जगदम्बिकया उक्तम् , 'वाराणस्यां गत्वा काशिराजकन्यामुद्वह, सा मन्नियोगात् त्वामेव परिणेष्यति। अहमपि तत्र स्थिता ते साहाय्यं संपादयिष्यामि'—इत्युक्त्वा सा अन्तर्हिता। पुनरहं प्रबुद्धः किमपि नापश्यम् ।

कहियेगा कि 'जगदम्बा ने शशिकला को तुम्हारे हाथ सौंप दिया है' ।

गुरु—यह तो मेरी शिष्या है । मैं यह कार्य अवश्य करूंगा । यह निश्चय जानो कि मैं सुदर्शन को अवश्य लाऊंगा ।

सखी—आप हमारे विश्वासपात्र हैं, अतः यह गोपनीय कार्य आपको सौंपा है ।

[वह उसे पत्र देती है और वह पत्र लेकर चला जाता है]

(परदा उठता है)

(चित्रकूट पर ऋषि के समीप माता के समीप सुदर्शन बैठा है ।)

ऋषि—ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कहना चाहते हो ।

सुदर्शन—जी हाँ, आज प्रातः काल जब मैं जगही रहा था कि जगदम्बा ने मुझसे कहा कि 'बनारस जाकर काशीनरेश की कन्या के साथ विवाह कर लो । वह मेरे निर्देश से तुम्हारे साथ ही विवाह करेगी । मैं भी वहाँ रहकर तुम्हारी सहायता करूंगी ।' यह कहकर वह अन्तर्हित हो गई । जगने पर फिर मुझे कुछ नहीं दिखाई दिया ।

वाराणसीं गत्वा काशिराजकन्यामुद्वह, सा मन्त्रियोगात्
त्वामेव परिणेष्यति' इति स्वप्नम् अपि श्रावयति

भरद्वाजः—पुत्रि ! मनोरमे ! अनन्यचेतसा विधीयमानस्य कीर्तनस्य प्रभावो दृष्टः ? पुत्रि ! प्राभातिकोऽयं स्वप्न इति त्वरितमेवाऽस्य फलं भविष्यति ।

मनोरमा—कीर्तनस्य प्रभावस्तु अस्त्येव, परमहं तु भवदुपदिष्टस्य मन्त्रस्य प्रभाव इति मन्ये ।

सुदर्शनः—मयाऽप्येवमेवावगम्यते यद् अनिर्वचनीयानि असंभावितान्येव सर्वाणि कार्याणि संपद्यन्ते ।

भरद्वाजः—अस्य मन्त्रस्य ईदृगेव प्रभावो दृष्टः । सा अनेन मन्त्रेण आशु संतुष्टा भवति ।

बटुः—(प्रविश्य) सुदर्शन ! काशीत एको ब्राह्मणः समायातः । स भवन्तं द्रष्टुमभिलषति ।

सुदर्शनः—(बहिरागत्य तं प्रणमति, स पत्रं ददाति । सुदर्शनः पत्रं गृहीत्वा वाचयित्वा च) भवान् कुत्र स्थितः ?

ब्राह्मणः—अहमिहैव एकस्य परिचितच्छात्रस्य समीपे स्थितः ।

भरद्वाज—पुत्री, मनोरमा, एकाग्र चित्त से किये गए कीर्तन का प्रभाव देखा ? पुत्री, यह प्रातः काल का स्वप्न है—इस लिये इसका फल शीघ्र ही होगा ।

मनोरमा—कीर्तन का प्रभाव तो है ही, पर मैं तो आपके द्वारा उपदिष्ट मन्त्र का प्रभाव ही मानती हूँ ।

सुदर्शन—मैं भी ऐसा ही समझता हूँ । क्योंकि अनिर्वचनीय असम्भावित सभी कार्य सिद्ध हो रहे हैं ।

भरद्वाज—इस मन्त्र का ऐसा ही प्रभाव है, वह इस मन्त्र से अति शीघ्र सन्तुष्ट हो जाती है ।

बटु—(आकर) सुदर्शन, काशी से एक ब्राह्मण आया है । वह आप से मिलना चाहता है ।

(सुदर्शन बाहर आकर इसे प्रणाम करता है । वह एक पत्र देता है । सुदर्शन पत्र लेकर बांचता हैं)

सुदर्शन—आप कहाँ ठहरे हैं ?

ब्राह्मण—मैं यहीं एक परिचित विद्यार्थी के पास ठहरा हूँ ।

सुदर्शनः—तर्हि आगच्छ, ऋषेः समीपे सर्वोऽपि निश्चयो भविष्यति। (स सुदर्शनेन सहागत्य ऋषिं प्रणम्य च यथास्थानमुपविशति। सुदर्शनोऽपि ऋषये पत्रं दत्त्वा उपविशति।)

भरद्वाजः—(मनसि पत्रं वाचयित्वा) विप्रदेव! भवान् काशीतः शशिकलया प्रेषितः ?

विप्रः—आम्।

भरद्वाजः—श्रूयते, तत्र स्वयंवरो भावी।

विप्रः—स्वयंवराडम्बरस्तु राजाज्ञया आरभ्यते। परं शशिकलया तु जगदम्बाज्ञया अयं (चक्षुःसंज्ञया) सुदर्शनो वृत एव। सा तु स्वयंवर-मण्डपेऽपि न गमिष्यति, राजा यथेच्छं करोतु।

भरद्वाजः—(सुदर्शनं लक्षयित्वा) गच्छ। जगदम्बिकया भवानपि अद्यैव स्वप्ने आदिष्टः।

सुदर्शन—तो आइये, ऋषि महाराज के समीप सभी बातों का निश्चय हो जायगा।

[वह सुदर्शन के साथ आकर ऋषि महाराज को प्रणाम कर समुचित स्थान पर बैठ जाता है। सुदर्शन भी ऋषि को पत्र देकर बैठ जाता है।]

भरद्वाज—(मन में पत्र बाँचकर) विप्रदेव, शशिकला ने आप को काशी से भेजा है ?

विप्र—जी हाँ।

भरद्वाज—सुनते हैं कि वहाँ पर स्वयंवर होगा।

विप्र—स्वयंवर के आडंबर का आरम्भ तो राजा की आज्ञा से किया गया है, परन्तु शशिकला ने जगदम्बा की आज्ञा से इस (आंख के संकेत से) सुदर्शन को वर लिया है। वह तो स्वयंवर मण्डप में भी नहीं जायगी, राजा जो चाहे सो करे।

भरद्वाज—(सुदर्शन की ओर लक्ष्य कर) जाओ, जगदम्बा ने आपको भी तो आज ही स्वप्न में आज्ञा दे दी है।

मनोरमा—महाराज ! अहमपि गमिष्यामि । वात्सल्यादेकाकिनमिमं प्रेषयितुं नोत्सहे । यतः युधाजिदपि तत्रागमिष्यति । स च दौहित्रसहायको भूत्वा किमपि अनिर्वचनीयं विधातुमभिलषिष्यति ।

भरद्वाजः—त्वं तु अबलाजातिः । पुत्रि ! त्वं किं तत्र विधास्यसि ? जगदम्बिका तु स्वयमस्य सहायिका भविष्यति ।

मनोरमा—महाराज ! अहं सुक्षत्रियाऽस्मि । पितुर्वैरं शोधयिष्यामि ।

युधाजितं रणे यातं कुटिलं वीरमानिनम् ।
निहत्यात्मपितुर्वैरं शोधयिष्ये हृदि स्थितम् ॥१२॥

भरद्वाजः—अस्य सहायिका तु जगदम्बिका अस्ति । मया अयं सुदर्शनः शस्त्रविद्यायां कुशलः संपादितः ।

एकाक्येव यथा रामो खरदूषणसैनिकान् ।
जघान तद्वदेषोऽपि सर्वानपि हनिष्यति ॥१३॥

मनोरमा—महाराज ! भवता यद्यपि शस्त्रविद्यायामयं सर्वलोकातिशायी संपादितः,तथापि वात्सल्यादहमपि सहैव गन्तुमभिलषामि ।

मनोरमा—महाराज मैं भी जाऊंगी । वात्सल्य से मैं इसे एकाकी भेजना उचित नहीं समझती, क्योंकि युधाजित् भी वहाँ आएगा । वह वहाँ अपने नाती का सहायक होकर न जाने क्या करना चाहेगा ।

भरद्वाज—तुम तो अबला हो, पुत्री ! तुम वहां क्या करोगी ? जगदम्बा तो इसकी सहायता करेंगी ही ।

मनोरमा—महाराज, मैं तो क्षत्रिया हूँ । अपने पिता के वैर का बदला लूंगी ।

रणभूमि में समागत, कुटिल, वीराभिमानी युधाजित् को मारकर मैं अपने पिता के वैर का बदला क्षण भर में ले लूंगी ॥१२॥

भरद्वाज—इसकी मददगार तो जगदम्बा है । मैंने भी इस सुदर्शन को शस्त्रविद्या में कुशल बना दिया है । अतः—

जिस प्रकार रामचन्द्र ने अकेले ही खर-दूषण के सैनिकों को मारा था, उसी प्रकार यह भी सभी को मारेगा ॥१३॥

मनोरमा—महाराज, शस्त्रविद्या में आपने इसे सर्वश्रेष्ठ बना दिया है, तथापि पुत्रस्नेह के कारण इसके साथ जाना चाहती हूँ ।

भरद्वाजः—अस्तु, गच्छतु भवत्यपि। (विप्रं लक्षयित्वा) विप्रदेव! भवानपि द्वित्रदिनानन्तरमनेन सुदर्शनेन सहैव गमिष्यति।

विप्रः—कार्यातिशयान्मम तत्रावश्यकता, इति मां गन्तुम् अनुजानातु भवान्।

भरद्वाजः—तथाऽस्तु। यथेच्छमनुष्ठीयताम् (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे)।

(पटीक्षेपः)

इति श्रीमहामहोपाध्याय-मथुराप्रसादकृतौ भक्तसुदर्शन-
नाटके तृतीयोऽङ्कः।

भरद्वाज—अच्छा, आप भी जाइये। (विप्र को लक्ष्यकर) विप्रदेव! दो तीन दिन के अनन्तर आप भी इसी सुदर्शन के साथ जाइयेगा।

विप्र—कार्य की विशेषता के कारण वहां मेरी आवश्यकता है। इसलिये मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।

भरद्वाज—बहुत अच्छा। जैसा समझ पड़े वैसा कीजिये।

[सब चले जाते हैं]

(परदा गिरता है)

श्री महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाददीक्षित के द्वारा विरचित
भक्त सुदर्शन नाटक का तृतीय अंक समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽङ्कः

प्रथमं दृश्यम्

(ततः प्रविशतः पुष्पाण्यवचिन्वत्यौ प्रियंवदासुलोचने ।)

(प्रवेशकः)

प्रियंवदा—[1]सहि अज्जेव्व ससिकलाए सुअंवरोऽत्थि, सा पडिक्खणं कुदो रोइदि ?

सुलोचना—[2]सहि ! ताए सुविणे सुदंसणो वरिओ, अओ सा सुअंबरं णाहिलसदि ।

प्रियंवदा—[3]आम् !! तत्थ गंतूण सुदंसणं चेव वराउ को दोसो ?

सुलोचना—[4]सा कहेइ । एगदा वरिज्जइ पदी । पुणो पुणो रायकुमा-

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

(तदनन्तर पुष्पों को चुनती हुई प्रियंवदा और सुलोचना का प्रवेश होता है।)

प्रियंवदा—सखी, आज ही शशिकला का स्वयंवर है, पर वह प्रतिक्षण क्यों रोती है ?

सुलोचना—सखी उसने स्वप्न में सुदर्शन को बर लिया है, अतः वह स्वयंवर नहीं चाहती ।

प्रियंवदा—हाँ, यदि वहाँ जाकर सुदर्शन को बर ले, तो क्या दोष है ?

सुलोचना—वह कहती है कि पति एकबार बरा जाता है, बार बार राज-

---

१. प्रियंवदा—सखि ! अद्यैव शशिकलायाः स्वयंवरोऽस्ति, सा प्रतिक्षणं कुतो रोदिति ?

२. सुलोचना—सखि ! तया स्वप्ने सुदर्शनो वृतः, अतः सा स्वयंवरं नाभिलषति ।

३. प्रियंवदा—आम् !! तत्र गत्वा सुदर्शनमेव वृणोतु, को दोषः ?

४. सुलोचना—सा कथयति, एकदा म्रियते पतिः, पुनः पुना राजकुमारीभिः

रीहिं वरणाहिलासा णेव्व करिज्जइ। अविअ, वरणत्थं अण्णं पुरिसं णेव्व दंसिस्से।

प्रियंवदा—[1]तदो रण्णा कुदो अग्गहो करिज्जदि।

सुलोचना—[2]सो सुदंसणं णाहिलसइ। कहेइ, कं पि रज्जाहिवइं रायकुमारं वरसु।

प्रियंवदा—[3]सुदंसणो वि रायकुमारोऽत्थि।

सुलोचना—[4]सुदंसणो रायकुमारोऽत्थि, परं सो रज्जाहिवई णत्थि।

प्रियंवदा—[5]कहम्?

सुलोचना—[6]पुव्वकालिओ वुत्तंतो एव्वं सुणिज्जदि—अजुज्झाहिव-

कुमारी वरण करने की अभिलाषा नहीं रखतीं, अतः वरण के लिये मैं दूसरे पुरुष को नहीं देखूंगी।

प्रियंवदा—तो फिर राजा आग्रह क्यों करते हैं?

सुलोचना—वह सुदर्शन को नहीं चाहता। वह कहता है कि किसी राजा के अधिपति राजा का वरण करो।

प्रियंवदा—सुदर्शन भी तो राजकुमार है।

सुलोचना—सुदर्शन राजकुमार तो हैं, पर राज्याधिपति नहीं हैं।

प्रियंवदा—कैसे?

सुलोचना—पुराना वृत्तान्त ऐसा है कि अयोध्यानरेश ध्रुवसन्धि के दो कुमार

वरणाभिलाषो नैव क्रियते। अपि च वरणार्थमन्यं पुरुषं नैव द्रक्ष्यामि।

१. प्रियंवदा—ततो राज्ञा कुत आग्रहः क्रियते?

२. सुलोचना—स सुदर्शनं नाभिलषति, कथयति कमपि राज्याधिपतिं राजानं वृणु।

३. प्रियंवदा—सुदर्शनोऽपि राजकुमारोऽस्ति।

४. सुलोचना—सुदर्शनो राजकुमारोऽस्ति, परं स राज्याधिपतिर्नास्ति।

५. प्रियंवदा—कथम्?

६. सुलोचना—पूर्वकालिको वृत्तान्त एवं श्रूयते, यद् अयोध्याधिपतेर्ध्रुवसन्धेर्द्वौ

इणो धुवसंधिणो दो कुमारा। जेट्ठो सुदंसणो, लहुओ सत्तुजिओ अ। सत्तुजिअमादामहो सुदंसणमादामहं हतूण अप्पणो दोहित्तं अजुज्झार-ज्जम्मि ठाविऊण अ सुदंसणं हंतुं समागओ। परं विदल्लेण मंतिणा समाइओ सुदंसणो कहंचिअ भरद्दाअमुणिणो अस्समे पाविओ।

प्रियंवदा—[1]किं सो सुदंसणोऽवि सुअवरम्मि आगओ?

सुलोचना—[2]अह किम्।

प्रियंवदा—[3]तहिं कासिराओ सुबाहू किं करिस्सइ। तेण सुअंबरट्ठं सव्वे रायाणो आहूआओ। ते अप्पणो अवमाणं मंतूणं जुज्झिस्संति।

सुलोचना—[4]जुज्झं तु होहिस्सइ चेव। सत्तुजिअदोहित्तेण सहिओ

हैं। बड़ा सुदर्शन और छोटा शत्रुजित्। शत्रुजित् के नाना ने सुदर्शनके नाना को मार कर अपने नाती को अयोध्या के सिंहासन पर बैठाकर सुदर्शन को मारने के लिये गया, परन्तु विदल्ल मन्त्री ने सुदर्शन को उसकी माता के साथ किसी प्रकार भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचा दिया।

प्रियंवदा—क्या वह सुदर्शन भी स्वयंवर में आया है?

सुलोचना—और क्या!

प्रियंवदा—तो फिर काशी नरेश सुबाहु क्या करेंगे? उसने स्वयंवर में सभी राजाओं को बुलाया है, और वे इसमें अपना अपमान समझ कर युद्ध कर बैठेंगे।

सुलोचना—युद्ध तो होगा ही, अपने नाती शत्रुजित् के साथ युधाजित् भी

कुमारौ। ज्येष्ठः सुदर्शनः, लघुकः शत्रुजित् च। शत्रुजिन्मातामहः सुदर्शन-मातामहं हत्वा आत्मनो दौहित्रं अयोध्याराज्ये स्थापयित्वा च सुदर्शनं हन्तुं समागतः, परं विदल्लेन मन्त्रिणा समातृकः सुदर्शनः कथंचिद् भरद्वाजमुनेराश्रमे प्रापितः।

1. प्रियंवदा—किं स सुदर्शनोऽपि स्वयंवरे आगतः?
2. सुलोचना—अथ किम्!
3. प्रियंवदा—तर्हि काशीराजः सुबाहुः किं करिष्यति? तेन स्वयंवरणार्थं सर्वे राजान आहूताः, ते आत्मन अपमानं मत्वा योत्स्यन्ते।
4. सुलोचना—युद्धं तु भविष्यत्येव। शत्रुजिद्दौहित्रेण सहितो युधाजित्

जुहाजिदो समागदो। सो कहेइ, अम्हे सुदंसणं हंतूणं ससिकलं हरिस्सामो। सा सुदंसणं वराउ, अण्णं वा। अम्हे सुदंसणं हणिस्सामो चेव।

प्रियंवदा—[1]एव्वं कासिरअस्स अम्हाणं ससिकलाए कासीणअरीए अ का दसा होहिस्सइ।

सुलोचना—[2]सहि किं कहेम्ह। आगच्छउ। बहूणि पुप्फाणि लद्धाणि। भरिआओ करंडिगाओ। तत्थ चेव गंतूण पेक्खिस्सामो; कि होइ। (ततः पुष्पाणि गृहीत्वा निष्क्रान्ते।)

द्वितीयं दृश्यम् पटोन्नयनम्—

(ततः प्रविशन्ति केरलदेशाधिपत्यादयः, स्वकीयदौहित्रेण सह उज्जयिनीपतिर्युधाजिच्च।)

आया है। वह कहता है कि हम सुदर्शन को मार कर शशिकला को हर लेंगे। वह चाहे सुदर्शन को बरे, अथवा दूसरे को। हम सुदर्शन को अवश्य मारेंगे।

प्रियंवदा—तो फिर काशीनरेश की, हमारी शशिकला की तथा काशी नगरी की दशा क्या होगी?

सुलोचना—सखी, क्या कहें, आओ, बहुत से फूल मिल गए हैं, कंडी भर गई हैं। वहीं चल कर देखेंगे कि क्या होता है।

[तदनन्तर फूल लेकर वे चली जाती हैं।]

द्वितीय दृश्य

(परदा उठता है)

(तदनन्तर केरल-नरेश, उज्जयिनीनरेश युधाजित् तथा उसके नाती का प्रवेश होता है)

समागतः, स कथयति-वयं सुदर्शनं हत्वा शशिकलां हरिष्यामः, सा सुदर्शनं वृणोतु अन्यं वा, वयं सुदर्शनं हनिष्याम एव।

१. प्रियवदा—एवं काशिराजस्य अस्माकं शशिकलायाः काशीनगर्याश्च का दशा भविष्यति?

२. सुलोचना—सखि किं कथयेम! आगच्छतु, बहूनि पुष्पाणि लब्धानि, भृते करण्डिके। तत्रैव गत्वा प्रेक्षिष्यावहे, किं भवति।

युधाजित्—केरलपते ! श्रूयते, भरद्वाजाश्रमात् सुदर्शनोऽपि समागतः । स च एकाक्येव । अहम् इहागतं तं हनिष्यामि ।

केरलनरेशः—अहो किमिदं कथयसि ? इहैतत्करणं न युज्यते ।

राज्यस्याधिकृतौ सुदर्शनवटुं योग्यं हठाद् दुर्मदा-
त्त्यक्त्वा स्वीयसुतासुतं रणजयात्साकेतराज्ये व्यधाः ।
यद्येकाकिनमागतं गतभयं हन्तुं व्यवस्येद् भवान्
तर्हि स्यात् प्रधनं महत् क्षितिभुजां लोके च ते दुर्यशः ॥१॥

युधाजित्—सुदर्शनं हनिष्यामः सदसद्वा वदेन्नरः ।
निष्कण्टकं स्वदौहित्रं विधास्यामोऽद्य संगरे ॥२॥

कर्णाटकनरेशः—युधाजित् ! इदं लोकविरुद्धं शास्त्रविरुद्धं च । एवं सति अत्रागतानामस्माकं सर्वेषामपि दुर्यशः स्यात् ।

युधाजित्—स्वयंवरागतां कन्याम् अन्यान् जित्वा हरेद् बुधः ।
इदं मन्वादिभिः प्रोक्तं कृतं पूर्वैश्च पार्थिवैः ॥३॥

युधाजित्—केरल नरेश, सुनते हैं कि भरद्वाज के आश्रम से सुदर्शन भी आया है, वह एकाकी है, उसके यहां आने पर मैं उसे मारूंगा ।

केरल नरेश—अरे, यह क्या कहते हो, यहाँ यह करना ठीक नहीं है ।

राज्याधिकार के योग्य बच्चे सुदर्शन को हठ से छोड़कर संग्राम में विजय प्राप्ति के कारण अपनी लड़की के लड़के को अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठा दिया है, और अब अकेले आए हुए निर्भीक इस सुदर्शन के वध का यदि आप आयोजन करेंगे तो राजाओं में बड़ा संग्राम छिड़ जायगा और आप का अपयश होगा ॥१॥

युधाजित्—हम तो सुदर्शन को मारेंगे, चाहे कोई भला कहे या बुरा । और आज संग्राम में अपने नाती को निष्कंटक बना देंगे ॥२॥

कर्णाटक-नरेश—यह लोक के विरुद्ध है और शास्त्र के भी विरुद्ध है । ऐसा होने पर यहाँ पर आए हुए हम सब लोगों का भी अपयश होगा ।

युधाजित्—चतुर लोग स्वयंवर में दूसरों को जीत कर, बल पूर्वक कन्या का अपहरण करते हैं । मनु आदि ने इसकी व्यवस्था दी है और प्राचीन राजाओं ने ऐसा ही आचरण भी किया है ॥३॥

(ततः सुबाहुः काशीनरेशः प्रविश्य यथास्थानमुपविष्टः । सर्वे परस्परमवलोकन्ते ।)

युधाजित्—सुबाहो ! किं सुदर्शनोऽपि आकारितः ?

सुबाहुः—मया तु नाकारितः, परं स स्वयंवरं श्रुत्वा स्वयमागतः ।

युधाजित्—किं त्वया सोऽतिथिः कृतः ?

सुबाहुः—स्वयंवरागताः सर्वेऽप्यतिथय एव । ते च अवश्यं सत्क्रियन्ते ।

युधाजित्—स्वयंवरे समायातुं कथमेष प्रकल्पते ।
शृगालः सिंहतनयामिच्छतीति न विश्रुतम् ॥४॥

सुबाहुः—सोऽपि क्षत्रियः, तदभिलाषं रोद्धुं कः शक्नुयात् ?

युधाजित्—अरे क्षत्रियशिरोमणे !

मुनिवृत्तिमुपासीनो राज्यशून्यो निराश्रयः ।
अकिञ्चनः कथमसावस्माकं श्रेणिमाश्रयेत् ॥५॥

[तदनन्तर काशीनरेश सुबाहु आकर अपने स्थान पर बैठ जाता है । सब एक दूसरे को देखते हैं ।]

युधाजित्—सुबाहु, क्या सुदर्शन को भी बुलाया है ?

सुबाहु—मैंने तो नहीं बुलाया है, पर स्वयंवर का समाचार सुनकर वह स्वयं आया है ।

युधाजित्—क्या आपने उसे अपना अतिथि बनाया है ?

सुबाहु—स्वयंवर में आए हुए सभी अतिथि हैं, उनका सत्कार अवश्य किया जाता है ।

युधाजित्—स्वयंवर में आने की कल्पना उसने कैसे कर ली । क्या कहीं ऐसा भी सुना गया है कि शियार शेर की कन्या की अभिलाषा रखता है ।।४।।

सुबाहु—वह भी क्षत्रिय है, उसकी अभिलाषा को कौन रोक सकता है ?

युधाजित्—अरे क्षत्रियों के सरदार,

मुनि जीविका से निर्वाह करने वाला, राज्य रहित, अवलंब शून्य यह दरिद्र हमारी बराबरी कैसे कर सकता है ? ।।५।।

केरल०—भवता अयं तथा विहितः, जन्मतस्तु अयोध्याधिपतिरेव ।

सुबाहुः—रामो मुनिं समुपगत्य बभूव भूपो,
दुष्यन्तराजतनयोऽपि मरीचिमाप्तः ।
सर्वोऽपि शिक्षणमुपैति मुनिं प्रपन्न-
स्तस्मान्मुनेरुपगतेर्नहि दोपमीक्षे ॥६॥

युधाजित्—अयमकिञ्चनः कथमिवास्माकं श्रेणिमाश्रयेत् ?

सुबाहुः—स्वयंवरे तु नैवं विचार्यते ।

युधाजित्—(वीरासनः क्रूरदृष्टिश्च सन्) तर्हि आगच्छतु स्वयंवरे। (तर्जनीं कम्पयन्)

हठात्कन्यां हरिष्यामस्तत्रायातां स्वयंवरे ।
सुदर्शनं हनिष्याम इत्येतत् संगिरामहे ॥७॥

सुबाहुः—नैतद् युज्यते ।

केरलनरेश—इसे ऐसा तो आपने बना दिया है । जन्म से तो वह अयोध्या-नरेश ही है ।

सुबाहु—मुनि का आश्रम लेने के अनन्तर रामचन्द्र राजा हुये थे, मरीचि को पाकर राजा दुष्यन्त का लड़का भरत सम्राट् हुआ था । मुनि के पास जाकर ही सब शिक्षा प्राप्त करते हैं, अतः मुनि के अवलंबन करने से मैं कोई दोष नहीं देखता ॥६॥

युधाजित्—यह दरिद्र है, अतः वह हमारी श्रेणी में कैसे आ सकता है ?

सुबाहु—स्वयंवर में तो यह सब नहीं विचारा जाता ।

युधाजित्—(वीरासन से बैठकर टेढ़ी आँखें करता हुआ) तो स्वयंवर में आवे । (तर्जिनी को कँपाते हुए—)

स्वयंवर में आई हुई कन्या का हम बलपूर्वक हरण करेंगे, तथा यहाँ आए हुए सुदर्शन का हम बध करेंगे—यह हम प्रतिज्ञा करते हैं ॥७॥

सुबाहु—यह उचित नहीं है ।

कर्णाटकनरेशः—तर्हि एवं भवतु, सुदर्शनः समाहूय प्रष्टव्यः। कथमसौ समागतः, किं किञ्चित्सैन्यमपि समानीतम्? इदं तु तस्य विदितमेव-यदत्र युधाजित्समागतः, स च मे प्राणवैरी।

केरलनरेशः—एवं भवतु, को दोषः।

सुबाहुः—युज्यते चैतत्। अहं तमाह्वयामि। (उत्थाय बहिर्गत्वा अनुचरेण तमाहूय पुनर्यथास्थानमुपविशति।)

केरलनरेशः—अहं तु संभावयामि, किञ्चिद्बलमाश्रित्यैव स आगतः।

कर्णाटकनरेशः—व्यक्तमेतत्, कथमन्यथा युधाजिदवश्यमागमिष्यतीति जानान एकाक्येव समभिगच्छेन?

युधाजित्—अलं बहुभिस्तर्कैः, अधुनैव निश्चयो भविष्यति। किञ्च-सबलो वा निर्बलो वा समभिगच्छतु, अहं तु तमवश्यमेव हनिष्यामि।

(ततः प्रविशति सुदर्शनः, सर्वान् प्रणम्य आसन्द्यामुपविशति।)

कर्णाटकनरेश—तो ऐसा हो कि सुदर्शन को बुलाकर उससे पूछना चाहिये कि वह यहाँ कैसे आया, क्या वह थोड़ी सी सेना भी अपने साथ लाया है? क्योंकि यह तो उसे विदित ही है कि युधाजित् यहां आए हैं, और वे मेरे प्राण के गाहक हैं।

केरलनरेश—ऐसा होने में कोई हानि नहीं है।

सुबाहु—यह उचित है। मैं उसे बुलाता हूँ (उठकर बाहर जाकर, नौकर से उसे बुलाकर फिर अपने स्थान पर आकर बैठ जाता है।)

केरलनरेश—मेरी समझ में तो वह कुछ बल (सेना-शक्ति) लेकर ही आया है।

कर्णाटकनरेश—यह युक्तियुक्त है, क्योंकि यह जानकर कि युधाजित् वहाँ आयेगा, वह अकेला कैसे आ जाता?

युधाजित्—बहुत छान-बीन करना निष्फल है, अभी निश्चय हुआ जाता है। पर एक बात है, चाहे वह सुशक्त आये अथवा अशक्त, मैं उसे अवश्य मारूँगा। (तदनन्तर सुदर्शन का प्रवेश होता है, वह सब को प्रणाम कर कुरसी पर बैठ जाता है।)

कर्णाटकनरेशः—सुदर्शन ! भवान् कथमिहायातः ?

सुदर्शनः—श्रुतमासीत्, इह सुबाहोः कन्यायाः स्वयंवरो भावीति, तदर्थमेवागतोऽस्मि ।

केरलनरेशः—आहूतो वा अनाहूतो वा ?

सुदर्शनः—अलमेतेन, अहं तु गुरोः, जगदम्बायाश्च आज्ञयैव समागतः ।

युधाजित्—का सा, यस्या आज्ञां समाश्रितोऽसि ।

सुदर्शनः—ब्रह्मा विष्णुर्महेशः सकलमपि जगद् यत्कृपातः सदैव
स्वं स्वं कार्यं विधत्ते व्रजति रविरपि व्योम्नि तेजःसमूहम् ।
रक्षन्ती या स्वभक्तान् नयति शुभमतिं ज्ञानसौख्यं गुणौघान्
दुष्टांस्तु प्राप्तगर्वानपि कुटिलगणान् हन्ति सा विश्वमाता ।८।

युधाजित्—(किञ्चिद्विहस्य) किं तया स्वप्ने आदिष्टोऽसि, साक्षाद्वा ?

कर्णाटकनरेश— सुदर्शनजी, आप यहाँ कैसे आए ?

सुदर्शन—सुना था कि सुबाहु की कन्या का स्वयंवर होगा, इसलिये आया हूँ ।

केरलनरेश—आप को बुलाया है या नहीं ?

सुदर्शन—इससे क्या ! मैं तो गुरुजी एवं जगदम्बा की आज्ञा से ही आया हूँ ।

युधाजित्—वह कौन है जिसकी आज्ञा की तुम आड़ लेते हो ?

सुदर्शन—जिसकी कृपा से सदा ही ब्रह्मा, विष्णु, महादेव एवं सम्पूर्ण जगत् भी अपना अपना कार्य किया करते हैं, भगवान् भास्कर भी गगन मण्डल में तेजो राशिता की प्राप्ति करते हैं, वह वही जगदम्बा हैं, जो अपने भक्तों को शुभ मति देकर ज्ञान सुख और गुणों के समूहों से उन्हें भर देती है, तथा गर्वशील कुटिल दुष्टों का विनाश करती है ।।८।।

युधाजित्—(कुछ हँस कर) उसने तुम्हें स्वप्न में आज्ञा दी है या साक्षात् रूप में ?

सुदर्शनः—(सस्मितम्) उभयथाऽपि ।

केरलनरेशः—अलमेतेन । इदं तु भवतां विदितमेव, यदयं युधाजित् भवतां प्राणवैरी, इति कियद् बलं सार्द्धं वर्तते ?

सुदर्शनः—अलं साधारणमनुष्याणां बलेन, मम तु जगदम्बिकाया आज्ञैव बलमस्ति ।

शृणुत- एकाक्येव शिवः सर्वान् अवधीत् त्रिपुरासुरान् ।
खरदूषणरक्षांसि क्षणाद् रामोऽप्यनीनशत् ॥९॥

(सर्वे तं साश्चर्यं पश्यन्ति) ।

युधाजित्—अलं मनोरथेन ।

दीर्घनिद्रामुपाश्रित्य शयानं त्वामुपागता ।
त्वन्माता करुणाक्रन्दं चरिष्यति रणाङ्गणे ॥१०॥

सुदर्शनः—अलमतिवल्गनेन।

सुदर्शन—मुसकुराकर दोनों ही रीति से ।

केरलनरेश—इसे जाने दो, यह तो आपको विदित ही है कि ये युधाजित् आपके प्राणों के गाहक हैं । अत: आपके पास कितनी सेना है ?

सुदर्शन—साधारण मनुष्यों के बल से क्या बन सकता है ? मुझे तो जगदम्बा की आज्ञा का ही बल है । सुनिये—

भगवान् शङ्कर ने अकेले ही संपूर्ण त्रिपुरा के दैत्यों का बध किया था और श्रीरामचन्द्रने भी अकेले ही खर-दूषण आदि राक्षसों का विनाश किया था ॥९॥

[सब उसे आश्चर्य से देखने लगते हैं]

युधाजित्—अजी मनोराज्यको रहने दो ।

मृत्यु की गोद में दीर्घ निद्रा से सोते हुए तुम्हारे पास आकर तुहारी माता संग्राम स्थल में करुण चीत्कार करेगी ॥१०॥

सुदर्शन—बहुत डींग न हांकिये ।

रणाङ्गणगताः शूराः दर्शयन्ति स्वपौरुषम् ।
कातरास्तु सदैवैवं वल्गन्ति रणविद्रुताः ॥११॥

युधाजित्—(मनसि) भरद्वाजाश्रमात् परावृत्तं मामयमधिक्षिपति ।

कर्णाटकनरेशः—अलमेतद्विवादेन, युद्धं तु भाव्येव । कियद् बलं त्वया सार्द्धमस्तीति ज्ञातुमाहूतोऽसि । तव निर्भीकतां, जगदम्बिकायां निष्ठां चावलोक्य वयमतिप्रसन्नाः स्मः । अधुना यथेच्छमाचर्यताम् ।

(स उत्थाय सर्वान् प्रणम्य निर्गच्छति)

कर्णाटकनरेशः—असौ निर्भीको दृढभक्तिश्च ।

सुबाहुः—अथ किम् ? माम् आज्ञापयन्तु भवन्तः, स्वयंवरकार्यं संपादयितुम् ।

कर्णाटकनरेशः—यथेच्छमाचर । (ततः सर्वे क्रमशो निर्गच्छन्ति) (पटीक्षेपः)

क्योंकि वीर संग्राम भूमि में आकर अपनी वीरता दिखाते हैं, और कायर सदा ही संग्राम से भागकर अपनी डींग हाँका करते हैं ॥११॥

युधाजित्—(मन में) भरद्वाज के आश्रम से पराङ्मुख मेरे ऊपर यह आक्षेप छीटाकसी करता है ।

कर्णाटकनरेश—इस विवाद में क्या धरा है ! युद्ध तो होगा ही, तुम्हारे पास कितनी सेना है—यह जानने को बुलाया था । तुम्हारी निर्भीकता तथा जगदम्बा में निष्ठा देखकर हम अत्यन्त प्रसन्न हैं, अब जैसा समझ में आए वैसा करो ।

[वह उठकर सबको प्रणाम करके चला जाता है ।]

कर्णाटकनरेश—यह निर्भय है और जगदम्बा में दृढ़भक्ति रखता है ।

सुबाहु—और क्या, अब आप लोग मुझे स्वयंवर के कार्य करने की अनुमति दें ।

कर्णाटकनरेश—ठीक है, यथेच्छ कीजिये ।

[तदनन्तर सब जाते हैं] [परदा गिरता है]

तृतीयं दृश्यम् । पटोन्नयनम् ।

(शशिकलामुपलालयन्ती महाराज्ञी तन्माता ।)

महाराज्ञी—पुत्रि ! स्वयंवरे गन्तुं सज्जीभव ।

शशिकला—नाहं स्वयंवरे गमिष्यामि, यो वृतः स वृत एव ।

महाराज्ञी—शशिकले ! तव तातस्य का दशा भविष्यति ? (इति रुदती कथयति ।)

> हा पुत्रि ! पालय वचोऽनुगृहाण तातम्
> वस्त्राणि चापि परिधेहि गृहाण माल्यम् ।
> संभाव्य राजककुले स्वमनोऽनुकूलं
> वीरं वृणीष्व नृपतिं पतिमात्मतुल्यम् ॥१२॥

शशिकला—स्वप्ने सुदर्शनो वृत एवेति नाहं पुनर्वरणार्थमन्यं निरीक्षिष्ये ।

महाराज्ञी—मनः संकल्पविकल्पजन्यस्य स्वप्नस्य का प्रामाणिकता ?

तृतीय दृश्य

[परदा उठता है]

(कन्या शशिकला को समझाती हुई उसकी माता)

महारानी—पुत्री, शशिकला, स्वयंवर में जाने के लिये तैयार हो जाओ ।

शशिकला—मैं स्वयंवर में नहीं जाऊँगी, जिसे बर लिया है, उसे बर ही लिया है ।

महारानी—तुम्हारे पिता की क्या दशा होगी ? (यह रोती हुई कहती है)

हे पुत्री, वचन का पालन करो, मुझ पर दया करो, वस्त्रों को पहनो, वर-माला ले लो, राजवंशों का सन्मान कर अपने मन के अनुकूल आत्मसदृश वीर राजा को पति करो ॥१२॥

शशिकला—स्वप्न में सुदर्शन का वरण कर ही लिया है, इसलिये फिर वरण करने के लिये दूसरे को न देखूंगी ।

महारानी—मन के संकल्प-विकल्प से समुत्पन्न स्वप्न का क्या प्रमाण ?

शशिकला—यदि मिथ्या भवेत्स्वप्नो मनःसंकल्पमात्रजः ।
सुदर्शनः स्वप्नदृष्टो दृश्यते च बहिः कथम् ॥१३॥

किञ्च—त्रिलोकजननी स्वयं समेत्य मम सन्निधौ,
सुदर्शनकरेण मे करं सममेलयत् ।
पुनः पुनरहो कथं क्रियेत तव कन्यया
पतिग्रहणमार्यकं कुलं नहि कलङ्कयताम् ॥१४॥

(इति रुदती पादयोः पतति ।)

महाराज्ञी—(तामश्रुधाराभिरभिषिञ्चन्ती कथयति ।) साधु साधु । उत्तिष्ठ वत्से ! मा रोदीः । अद्यैव सुदर्शनेन सह ते पाणिग्रहणं संपादयिष्ये । यद् भवतु तद् भवतु ।

(पटीक्षेपः)

चतुर्थं दृश्यम्—पटोन्नयनम् ।

(ततः स्वयंवरमण्डपे राजा सुबाहुः, इतरे राजानश्च स्थिताः ।)

शशिकला—यदि मन के संकल्प मात्र से समुत्पन्न स्वप्न की मिथ्या प्रतीति है, तो स्वप्न में अवलोकित सुदर्शन बाहर क्यों दीख पड़ता है ? ॥१३॥

इसके अतिरिक्त-स्वयं जगम्बाने मेरे पास आकर सुदर्शन के हाथ से मेरे हाथ को मिलाया था । इसलिये तुम्हारी बेटी बार बार पतियों का ग्रहण किस प्रकार करले । अतः आर्यवंश को कलङ्कित न कराइये ॥१४॥

(रोती हुई पैरों पर गिर पड़ती है)

महारानी—(उसे आँसुओं की धाराओं से अभिषेक करती हुई) बहुत अच्छा । उठो बेटी । मत रोओ । आज ही सुदर्शन के साथ तुम्हारा विवाह करा दूँगी । इसके अनन्तर जो हो, सो हो ।

(परदा गिरता है)

चतुर्थ दृश्य

परदा उठता है ।

(स्वयंवर मण्डप में राजा सुबाहु और दूसरे राजा अपने २ स्थान पर बैठे हैं ।)

सुबाहुः—(सानुनयम्) भोः भोः महाराजाः ! स्वयंवरे आगमनार्थं सा बहुतरमुक्ता, परमागन्तुं नैव उत्सहते ।

युधाजित्—किं पूर्वं स्वयंवरणार्थं पृष्टा न वा ?

सुबाहुः—सर्वथा योग्यपतेरलाभे कन्याया वयोऽवलोक्य सर्वैरपि नृपतिभिरेवमेव क्रियते, नतु कन्या स्वयंवरणार्थं पृच्छयते ।

युधाजित्—आगामिनि दिने अवश्यं प्रतिबोध्य आनेतव्या, मा अन्यथा भवेत् ।

सुबाहुः—अवश्यं प्रतिबोधयिष्यामि, यदि न स्वीकरिष्यति तदा भवतः क्षमापयिष्ये । अद्य तु सर्वे भवन्तः स्वं स्वं शिविरं गच्छन्तु । अहमेष गच्छामि ।

युधाजित्—अस्ति द्विदले किञ्चिच्छ्यामम् । (सर्वे राजानः सशिरः-कम्पमनुमोदन्ते । सुबाहुरशृण्वन्निव निर्गच्छति । तदनु सर्वे राजानोऽपि निर्गच्छन्ति) ।

(पटीक्षेपः)

सुबाहु—(विनय से) हे महाराजाओ, स्वयंवर में आने के लिये उस कन्या से बहुत कुछ कहा, पर वह आने को उद्यत नहीं होती ।

युधाजित्—क्या उससे स्वयंवर के लिये पहिले पूछा था या नहीं ?

सुबाहु—सर्वतोभाव से योग्य पति की अप्राप्ति होने पर और कन्या की अवस्था देख कर सभी राजा ऐसा ही करते हैं । कोई कन्यासे स्वयंवर के लिये नहीं पूछता ।

युधाजित्—कल उसे समझा बुझाकर अवश्य लाइयेगा । इसके प्रतिकूल न होने पाये ।

सुबाहु—अवश्य समझायेंगे । परन्तु यदि वह स्वीकार न करेगी तो आपसे क्षमा माँग लेंगे । आज आप लोग अपने अपने शिविर में जायँ । मैं भी जाता हूँ ।

युधाजित्—दाल में कुछ काला है । (सब राजा सिर हिला कर उसका समर्थन करते हैं । सुबाहु मानों इसे न सुन कर चला जाता है । उसके पीछे सभी राजा चले जाते हैं ।) (परदा गिरता है)

पञ्चमं दृश्यम्—पटोन्नयनम्

(ततः प्रविशति राजा महाराज्ञी च)

राजा—आर्ये ! सा किं कथयति ?

महाराज्ञी—महाराज ! बहुतरं प्रतिबोधिता, परं स्वयंवरे गन्तुमपि नैव अनुमन्यते, 'सुदर्शनो वृत एवेति नान्यं वरणार्थं निरीक्षिष्ये' इति च कथयति ।

राजा—आर्ये ! तदा च किं क्रियताम् ?

महाराज्ञी—अद्य शुभमुहूर्तयोगात् सुदर्शनेन सह पाणिग्रहणं कार्यताम् ।

राजा—(किंकर्तव्यताविमूढ इव) जगदम्बे ! त्वमेव शरणम् ।

महाराज्ञी—अलं शोकेन, यद् भवतु तद् भवतु । जगदम्बायाः समाश्रयेण करोतु, शुभमेव भविष्यति इति मे मनसि प्रतिभाति ।

राजा—अत्रागताः सर्वे राजानो वैरायिष्यन्ते, युधाजित् अतितरा-

पञ्चम दृश्य—परदा उठता है ।

(एक ओर राजा और दूसरी ओर से शशिकला की माता का प्रवेश होता है ।)

राजा—अजी, वह क्या कहती है ?

महारानी—महाराज, उसे मैंने बहुत कुछ समझाया, पर वह स्वयंवर में जाने के लिये नहीं उद्यत होती । और कहती है कि सुदर्शन को वर ही लिया है, इसलिये वरण करने के लिये दूसरे को न देखूंगी ।

राजा—तो फिर क्या किया जाय ?

महारानी—आज शुभ मुहूर्त में सुदर्शन के साथ उसका विवाह कर दीजिये । राजा (किंकर्तव्यविमूढ-सा) जगदम्बा ! तुम्ही शरण हो ।

महारानी—शोक न कीजिये । चाहे जो कुछ हो । जगदम्बा का अवलम्ब ग्रहण कीजिये । शुभ ही होगा–ऐसा मेरे मन में प्रतिभासित होता है ।

राजा—यहाँ पर आए हुए सभी राजा वैर मान लेंगे, युधाजित् अत्यन्त

मुपद्रोष्यति । सर्वान् योद्धुमुत्साहयिष्यति च । ममैकाकिनः स्वल्पमेव सैन्यम् । एतेषां संघभतानां विशालतरम् ।

पश्य—आयस्तार्णवसन्निभाऽतिविपुला ज्याघोषमातन्वती
पश्यन्ती नगरीं मुहुर्मुहुरियं धत्ते जिघत्सां चमूः ।
मन्ये स्वामिन आज्ञया स्थितवती युद्धोत्सुका सज्जिता
माता श्रीजगदम्बिकैव शरणं सा मे बलं यच्छतु ॥१५॥

महाराज्ञी—(सनिर्वेदम्) सत्यमेवैतत् ।

सर्वतो नगरीं रुन्धे क्रूरमेव निरीक्षते ।
जिघत्सन्तीव भुवनं स्वाम्याज्ञामात्रतः स्थिता ॥१६॥

सर्वमिदं सत्यम्—परमेतेन सुदर्शनेन सह पाणिग्रहणार्थं जगदम्बया शशिकला आदिष्टा । सुदर्शनश्च जगदम्बायाः परमभक्तः । इदमपि

ही उपद्रव करेगा, और सभी को युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित भी करेगा। मुझ-एकाकी के पास बहुत ही थोड़ी सेना है, और सम्मिलित इन लोगों की अधिक विशाल है। देखो—

विस्तृत समुद्र के समान अत्यन्त महती यह सेना घोर ध्वनि करती हुई नगरी को निगल जाने की अभिलाषा से इसे बार बार देख रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि सुसज्जित युद्धाभिलाषिणी यह सेना स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा कर रही है। अब तो माता श्री जगदम्बिका ही का सहारा है। वही मुझे शक्ति प्रदान करें ॥१५॥

महारानी—(निर्वेद के साथ) यह सच ही है।

इस सेना ने चारो ओर से नगरी को घेर लिया है, और यह इसे क्रूर दृष्टि से ऐसे देख रही है, मानों यह सम्पूर्ण संसार को खा जाना चाहती है, परन्तु केवल स्वामी की आज्ञा से रुकी हुई है ॥१६॥

परन्तु शशिकला को तो इस सुदर्शन के साथ विवाह करने के लिये श्रीजगदम्बा ने आज्ञा दी है। और सुदर्शन जगदंबा का परम भक्त है। यह

श्रूयते, तस्याः साक्षात्कारः सुदर्शनस्य जातः। तयैवाज्ञप्तोऽत्रागत इति। सा अवश्यमेव साहाय्यं करिष्यति।

राजा—(सशिरःकम्पम्) सत्यमेवैतत्। अत एव अद्य राज्ञां परिषदि 'आहूतो वा अनाहूतो वा' इति पृष्टे सुदर्शनेनोक्तम्—'जगदम्बाया आज्ञयैव समागतः।' परं त्वया कुत एतत् श्रुतम्?

महाराज्ञी—सुदर्शनाय शशिकलायाः पत्रं दातुं वसुदेवगुरुस्तत्र गतः, तेन देव्या दर्शनम्, काशिराजपुत्र्याः पाणिग्रहणाय प्रेरणमित्यादि सर्वं श्रुतम्। सा चागत्य पूर्वमेव सर्वमुक्तवान्।

राजा—तर्हि सिद्धं नः समीहितम्। अस्तु। यद् भवतु तद् भवतु। जगदम्बा स्वयमेव सहायिका भविष्यति। (इति शशिकलायाः पाणिग्रहणं संपादयितुं तौ निर्गच्छतः) (पटाक्षेपः)

इति श्रीमहामहोपाध्याय-मथुराप्रसादकृतौ भक्तसुदर्शन-नाटके चतुर्थोऽङ्कः।

भी सुना है कि सुदर्शन को जगदंबा का साक्षात्कार हुआ है, और वह उसी की आज्ञा से यहाँ आया है। अतः श्रीजगदम्बा अवश्य ही सहायता करेंगी।

राजा—(सिर हिला कर) यह सच ही है। अत एव आज सुदर्शन से जब राजाओं की सभा में यह पूछा गया कि 'तुम बुलाए हुए आए हो या बिना बुलाए' तब उसने कहा कि 'जगदम्बा की आज्ञा से ही आया हूँ।' परन्तु तुमने यह कहाँ से सुना?

महारानी—सुदर्शन को शशिकला के पत्र को देने के लिये जब वसुदेव गुरु वहाँ गए थे, तब जगदम्बा का दर्शन, काशिराज की कन्या के साथ विवाह के लिये प्रेरणा इत्यादि सभी बातें उन्होंने आकर सभी बातें पहले ही कह दी थीं।

राजा—तो हम लोगों का मनोरथ सिद्ध हो गया। बहुत अच्छा। कुछ भी हो जगदम्बा स्वयं ही सहायक होंगी।

(शशिकला का विवाह करने के लिये वे दोनों जाते हैं)

(परदा गिरता है)

इति श्री महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाददीक्षित के द्वारा विरचित भक्त सुदर्शन नाटक का चतुर्थ अंक समाप्त हुआ।

पञ्चमोऽङ्कः

प्रथमं दृश्यम्

पटोन्नयनम्

(स्वयंवरमण्डपे सर्वे राजानः स्थिताः, ततः कुतोऽपि वादित्ररवः श्रूयते । सर्वे सचकितं साश्चर्यं शृण्वन्ति ।)

युधाजित्—केरलनरेश ! किं शशिकलायाः पाणिग्रहो जातः ?

केरलनरेशः—वादित्ररवेण तु एवमेव निश्चीयते ।

युधाजित्—मया तु गतदिने एव सुबाहोर्वचनात् सम्यगवगतं यदयं सुदर्शनाय कन्यां दास्यति ।

केरलनरेशः—इह कन्या आगत्य सुदर्शनं वृणोतु अन्यं वा । इदं तु युज्यते । परमस्मानाहूय गृह एव कन्यादानं न युज्यते ।

(ततः प्रविशति राज्ञोऽनुनेतुं क्षमापयितुं च सुबाहुः)

पांचवाँ अङ्क

प्रथम दृश्य परदा उठता है ।

[स्वयंवर मण्डप में सब राजा बैठे हुए हैं । कहीं से बाजों की आवाज सुनाई देती है । सब चकित हो आश्चर्य से सुनते हैं ।]

युधाजित्—केरलनरेश ! क्या शशिकला का विवाह हो गया है ?

केरलनरेश—बाजे की आवाज से ऐसा ही निश्चय होता है ।

युधाजित्—मैंने कल ही सुबाहु की वचन रचना से यह भली भाँति जान लिया था कि यह सुदर्शन को अपनी कन्या देगा ।

केरलनरेश—यहाँ तक तो ठीक उचित था कि कन्या यहाँ आकर सुदर्शन अथवा अन्य किसी को बरती, परन्तु हमलोगों को बुलाकर घर ही में कन्यादान उपयुक्त नहीं है ।

[तदनन्तर राजाओं से अनुनय-विनय करने के लिये तथा उनसे क्षमा माँगने के लिये सुबाहु का प्रवेश होता है ।]

सुबाहुः—श्रीमन्तोऽत्रभगवन्तो भवन्तः क्षाम्यन्तु। स्वयंवरे आगन्तुं बहुतरमुक्ता सा कन्या परं कथमपि न स्वीकृतवती। उक्तवती च स्वप्ने सुदर्शनेन सह पाणिग्रहो जातः, इति नाहं पुनर्वरयितुं गमिष्यामि। ततस्तस्या आग्रहमवलोक्य तेन सह सा विवाहिता। अतः क्षाम्यन्तु, अनुगृह्णन्तु च उपायनं स्वीकर्तुम्।

केरल०—नैतत् त्वया उचितमाचरितम्। यत् स्वयंवरे वयमाहूताः; गेहे एव सा विवाहिता।

सुबाहुः—किं कुर्याम्? तस्या आग्रहमवलोक्य विवश एव संजातः।

युधाजित्—अरे रे क्षत्रियकुलकलङ्क!

भीरुः कातरतामुपेत्य सदने कन्यामदाः स्वेच्छया
मुक्त्वा क्षत्रियकुञ्जरान्, बलिभुजो हंसीं गले बद्धवान्।
सर्वे चैव तिरस्कृता वयमिहाहूतास्त्वयाऽहंकृतेः,
पश्याम्यद्य क एष रक्षति रणे त्वां चापि तौ दम्पती ॥१॥

सुबाहु—महानुभावों! आप लोग हमें क्षमा करें, क्योंकि स्वयंवर में आने के लिये बहुत कुछ कहने पर भी उस कन्या ने यहाँ पर आना न माना, और कहने लगी कि स्वप्न में सुदर्शन के साथ विवाह हो गया है। अतः पुनः विवाह करने के लिये न जाऊँगी। तदनन्तर उसके आग्रह को देखकर मैंने उसका उसी के साथ विवाह कर दिया। इसलिये आप क्षमा करें और भेंट स्वीकार करने में अनुग्रह दरसायें।

केरलनरेश—तुमने यह ठीक नहीं किया कि हम लोगों को स्वयंवर में बुलाया और घर के अन्दर ही उसका विवाह कर दिया।

सुबाहु—क्या करता? उसके आग्रह को देखकर विवश ही हो गया था।

युधाजित्—अरे-नीच क्षत्रिय कुल कलङ्क!

भयभीत होकर तुमने कायरता के बश में आकर घर के अन्दर ही स्वेच्छा पूर्वक कन्या का दान कर दिया है, क्षत्रिय कुलावतंस हम लोगों को छोड़कर कौए के गले में हंसी बांध दी है। अहंकार के कारण तुमने हम सब को यहाँ बुलाकर अपमानित किया है। मैं देखूंगा कि आज संग्राम में तुम्हारी और उन दोनों की कौन रक्षा करता है? ॥१॥

सुबाहुः—महाराज ! एकैव मे कन्या, तस्या आग्रहमवलोक्य वात्सल्यात् तथाऽकार्षं कदाचिद् विवशा सती आत्मघातं न कुर्यात् ।

युधाजित्—प्रपञ्चपटवोऽनेके नखभागे वसन्ति मे ।
अपास्य चाटुवचनं संग्रामाय मतिं कुरु ॥२॥

कर्णाटक०—किमयं कुर्यात् ? वात्सल्याद् विवशः सन्नेव तथाऽकरोत् ।

केरल०—भवादृशा मानशून्याः प्रपञ्चे सत्यबुद्धयः ।
परिच्छन्नां राजनीतिं नावगच्छन्ति तत्त्वतः ॥३॥

कर्णाटक०—क्व ते राजनीतिपरीक्षणं दृष्टम् ?

युधाजित्—अवसरानवगतेरस्य राजनीतिपरीक्षणं न जातम् इति तु अन्यत्, परमिदं सर्वं तु प्रपञ्चत एव विहितम् ।

सुबाहुः— वाराणसीस्थोऽपि नरः किमु स्यात्,
दुष्टो दुरात्मा कपटी प्रपञ्ची ।

सुबाहु—महाराज, मेरे एक ही कन्या है, उसके आग्रह को देखकर वात्सल्य वश ही ऐसा किया है, कि कहीं विवश होकर आत्महत्या न कर बैठे ।

युधाजित्—तुम्हारे सरीखे बहुत से प्रपञ्ची पुरुष हमारे नखाग्र भाग में पड़े रहते हैं । अतः चाटुकारिता का परित्याग कर आप तथा सुदर्शन दोनों संग्राम के लिये तैयार हो जायँ ॥२॥

कर्णाटकनरेश—यह क्या करता ! वात्सल्य से विवश होकर ही इसने ऐसा किया है ।

केरलनरेश—आपके सदृश सन्मान शून्य तथा प्रपञ्च को भी सत्य समझने वाले पुरुष अव्यक्त राजनीति को ठीक-ठीक नहीं समझते ॥३॥

कर्णाटकनरेश—तुमने कहाँ राजनीति की परीक्षा दी है ?

युधाजित्—अवसर के न मिलने से इसकी राजनीति की परीक्षा नहीं हुई । यह दूसरी बात है, परन्तु यह सब तो प्रपञ्च से ही किया गया है ।

सुबाहु—क्या काशीनिवासी भी दुष्ट, दुरात्मा, कपटी, प्रपञ्ची, संग्राम से

भीरुः स्याम्नास्तिकतामुपेतो
मिथ्याप्रियश्चेति विभावयेथाः ॥४॥

केरल०—अलं बहूक्तेन, प्रत्यक्ष एव प्रपञ्चोऽवलोक्यते यदस्मानाहूय गेहे एव पाणिग्रहणमकारयत्।

सुबाहुः—महाराज! मया तु सत्यमेवोक्तम्, भवतां न प्रत्ययो भवतीति किं कुर्याम्।

युधाजित्—(विहस्य) ओम् ओम्! त्वादृशाः सत्यवादिनो बहवो दृष्टाः।

सुबाहुः—(सरोषम्) भवादृशाः कपटपटवो मायाविनो नः सर्वान् मिथ्यावादिन एव मन्यन्ते। यत्—

मिथ्यावादी नैव सत्यं प्रमाति नीचो ब्रूतेऽन्यदन्यद् विधत्ते।
यो यादृक् स्यात् मन्यतेऽन्यं तथैव चौरश्चौरान्मन्यते सर्वलोकान् ॥५॥

युधाजित्—(खड्गं स्पृशन्) अरे रे दुष्टापसद! किं प्रलपसि?

भयभीत (कायर) नास्तिक तथा मिथ्याप्रिय होता है—इसे तो जान लो ॥४॥

केरलनरेश—बहुत-सी बातों से क्या लाभ है? आपका प्रपञ्च तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ता है कि हम लोगों को बुलाकर भवन के भीतर ही पाणिग्रहण संस्कार करा लिया।

सुबाहु—महाराज, मैंने तो सत्य ही कहा है, यदि आपको विश्वास नहीं होता तो क्या करूँ?

युधाजित्—(हँसकर) हाँ, हाँ, आपके सदृश अनेक सत्यवादियों को हमने देखा है।

सुबाहु—(क्रोध से) आपके सदृश प्रपञ्च चतुर मायावी पुरुष सभी को मिथ्यावादी ही जानते हैं, क्योंकि—

मिथ्यावादी कभी भी सत्य पर विश्वास नहीं करता। नीच पुरुष कहता कुछ है और करता कुछ है। जो जैसा होता है, दूसरे को वैसा ही समझता है, चोर सब लोगों को चोर ही समझता है ॥५॥

युधाजित्—(तलवार का स्पर्श करता हुआ) अरे नीच, दुष्ट, क्या बकता है?

किमस्मि त्वां क्षणेनैव शाययेयं द्विधा कृतम् ।
यतः प्रलापं नो कुर्याः कस्यचित्सन्निधौ पुनः ॥६॥

कर्णाटक०—अलमेतादृशव्यवहारेण । शान्ता भवन्तु भवन्तः । अगत्या वा अन्यथा वा यदनेन विहितं तद् विहितमेव, अतः परं यद् भवन्तो निश्चिन्वन्तु तत्कुर्वन्तु । अलं वाक्कलहेन ।

युधाजित्—अस्तु सुबाहो ! युद्धाय सज्जीभूय सुदर्शनं कन्यां च तद्गेहे विसर्जय, वयं मार्गं निरुध्य योत्स्यामहे, हठात्कन्यां हरिष्यामश्च । त्वमपि सहायको भूत्वा रक्षयेथाः ।

सुबाहुः—यदभिलषथ, तत्कुरुत, परं शान्ता भूत्वा उपायनानि गृह्णन्तु ।

केरल०—किं वयमकिञ्चनाः, यदेतदुपायनग्रहणार्थमेवात्रागताः ? एतदुपायनग्रहणाय कथनं, क्षते क्षारमिव विधीयते ।

युधाजित्—अलमुत्कोचदानेन रणाय कुरु सज्जताम् ।
अनाचर्यं विधायैवं मामुड्डयसे किमु ॥७॥

मनमें तो ऐसा आता है कि तुम्हें दो टुकड़े करके ज़मीन में सुला दें जिससे कि फिर किसी से प्रलाप न कर सको ॥६॥

कर्णाटकनरेश—इस प्रकार के व्यवहार व्यर्थ हैं । आप लोग शान्त होइये । इसने अगला अथवा दूसरे रूप में जो कुछ किया है, वह किया ही है । इसके अनन्तर आप लोग जो निश्चय करें वह करें । वाक्-कलह (शब्दों से झगड़ा) रहने दें ।

युधाजित्—अच्छा सुबाहु, युद्ध के लिये तैयार होकर सुदर्शन और कन्या को उसके घर जाने के लिये विसर्जित कर दो । हम मार्ग में रोककर युद्ध करेंगे, और बलपूर्वक कन्या छीन लेंगे, तुम भी सहायक होकर उनकी रक्षा करना ।

सुबाहु—जो चाहना, सो करना, परन्तु शान्त होकर भेंट ले लीजिये ।

केरलनरेश—क्या हम दरिद्र हैं कि इस भेंट लेने के लिये यहाँ आए हैं । इस भेंट के ग्रहण का कथन घाव पर निमक का काम करता है ।

युधाजित्—रिशवत से कुछ नहीं-संग्राम की तैयारी करो । अनुचित कार्य करके फिर क्यों चिढ़ाते हो ? ॥७॥

सुबाहुः—अलं वारं वारं युद्धोद्घोषणेन ।

वयं रणान्नैव पलायिताः क्वचित् नवा भयं मे मरणाच्च जायते ।

रणात्प्रियं किन्वधिकं महीभुजां जये मही तत्र मृतौ परा गतिः ॥८॥

युधाजित्—को नाम रणात्पलायितः? कमाक्षिपसि?

सुबाहुः—भरद्वाजऋषेः स्थाने गत्वा रुद्ध्वा च सर्वतः ।

मृत्योर्भयात् क्लिन्नदेहः को नाम प्रपलायितः ॥९॥

युधाजित्—ऋषिरयमकिञ्चित्कर इति परित्यक्त एव, नतु तत्र योद्धुमगच्छम् ।

सुबाहुः—सुदर्शनस्य ग्रहणेऽभियोगवान्

विलोक्य तेजोऽनुपदं पलायितः ।

ऋषेस्तिरस्कारमुपागतोऽपि सन्

स एष शूरः किमु वास्ति कातरः ॥१०॥

युधाजित्—कर्णाटकनरेश !

सुबाहु—बारंबार युद्ध की घोषणा रहने दो ।

हम रण स्थल से कहीं नहीं भागे हैं । हमारे मनमें मरण से भय नहीं उत्पन्न होता । राजाओं के लिये संग्राम से अधिक कौन सी वस्तु प्रिय हो सकती है ? क्योंकि जय होने पर पृथ्वी की प्राप्ति और मरने पर मोक्ष ॥८॥

युधाजित्—कौन संग्राम से भागा है ? किस पर आक्षेप करते हो ?

सुबाहु—भरद्वाज ऋषि के स्थान पर जाकर और चारों ओर से घेरा डाल कर, कौन मृत्यु के भय से पसीने से तरल होकर भागा था ? ॥९॥

युधाजित्—'यह किस खेत की मूली है' यह समझ कर ऋषि को छोड़ दिया है, वहाँ मैं युद्ध करने के लिये नहीं गया था ।

सुबाहु—सुदर्शन को पकड़ने के लिये भाग-दौड़ करनेवाला, परन्तु (ऋषि के) तेज को देखकर उलटे पैर भाग खड़े हुआ—ऋषि से तिरस्कृत होने पर भी वह वीर है या कायर ? ॥१०॥

युधाजित्—कर्णाटक महाराज,

शमनस्यातिथिरसौ बुभूषति विकत्थनैः।
वार्यतामन्यथा नेष्ये क्षणेनेमं यमालयम् ॥११॥

कर्णाटकनरेशः—(उत्थाय हस्तौ बद्ध्वा) सर्वे शान्ता भवन्तु, सर्वान् क्षमापये।

(सर्वे मौनमास्थिताः। सुबाहुः सर्वान् प्रणम्य निर्गच्छति। तदनु कतिचन स्वापमानं मन्यमानाः क्रुद्धाः कतिचन शान्ताश्च निर्गच्छन्ति।)

द्वितीयं दृश्यं पटोन्नयनम्।

(सुबाहुः सुदर्शनश्च स्थितौ परामृशतः।)

सुबाहुः—सुदर्शन! युधाजित् सर्वथा युद्धायोद्यतः, केरलनरेशं च उत्साहयति। इति सोऽपि उद्युक्त एव, अतः अहमभिलषामि, कियत्कालं भवानस्मद्दुर्गे एव तिष्ठतु। अजेयमिदं दुर्गम्।

सुदर्शनः—(किञ्चित्स्मित्वा) काशीपते! इदं यदुच्यते, तत्तु भवतां

यह अनर्गल प्रलापों से यम का अतिथि बनना चाहता है। इसे रोक दीजिये, नहीं तो मैं क्षणभर में इसे यम के घर भेज दूँगा ॥११॥

कर्णाटकनरेश—(उठकर और हाथ जोड़कर) आप सब शान्त हो जाइये। हम सबसे क्षमा की प्रार्थना करते हैं।

[सब चुप हो जाते हैं। सुबाहु सबको प्रणाम कर चला जाता है। तदनन्तर कुछ अपना अपमान समझने के कारण क्रुद्ध होकर और कुछ शान्ति मुद्रा धारण कर चले जाते हैं।]

द्वितीय दृश्य

परदा उठता है।

[सुबाहु और सुदर्शन बैठे हुए विचार कर रहे हैं।]

सुबाहु—सुदर्शन, युधाजित् सर्वथा युद्ध के लिये उद्यत हैं। केरलनरेश को उत्साहित कर रहा है, अब वह भी उद्यत ही है, इस लिये मेरी यह अभिलाषा है कि कुछ दिनों तक आप हमारे किले ही में ठहरें, क्योंकि यह किला अजेय है।

सुद०—(कुछ मुस्कराकर) काशीराज, आप ने जो कुछ कहा है, वह

वात्सल्यमेव । मया भरद्वाजकृपातः सर्वाण्यस्त्राणि उपलब्धानि । यैः—

सर्वान् समेतान् युगपद् रणाग्रे चास्त्रादहं नाशयितुं समर्थः ।
स्वभक्तवश्या जगदम्बिका वा सहायिकोपेत्य हनिष्यतीमान् ॥१२॥

सुबाहुः—(तद्विश्वासमवगत्य साश्चर्यमवलोक्य) सर्वं सम्भाव्यते । सा परमकारुण्यवती स्वभक्तार्थं तथागत्य कर्तुं समर्थैव ।

सुदर्शनः—किं न पश्यसि ? यत्प्रेरणयैव अकिञ्चनायापि मह्यं त्वं कन्यामदद्याः । अथेदानीं गन्तुमभिलषामीति विसर्जय ।

सुबाहुः—यद्भवद्भ्यो रोचते तदाचरामि, परन्तु मार्गमवरुध्य स्थिता युधाजित्प्रभृतयो योत्स्यन्ते, इत्यहमपि तत्पर्यन्तं जिगमिषामि ।

सुदर्शनः—यथा वोऽभिरुचिः । (ततो वादित्राणि श्रूयन्ते । उभौ निर्गच्छतः)

आपका वात्सल्य ही है । परन्तु भरद्वाज की कृपा से मैंने सम्पूर्ण अस्त्र प्राप्तकर लिये हैं, जिनसे—

संग्राम में मिल कर एक साथ आक्रमण करने वाले इन सबका मैं नाश कर सकता हूं । अथवा अपने भक्तों के वश में अवस्थित जगदम्बिका सहायक रूप से आकर इन सबका नाश कर देंगी ॥१२॥

सुबाहु—(जिस पर विश्वास कर और आश्चर्य के साथ देख कर) सब कुछ सम्भावित है । वह अत्यन्त दयामयी है । अपने भक्तों के लिये वहाँ आकर कर ही सकती है ।

सुदर्शन—आप यह क्यों नहीं देखते कि जिसकी प्रेरणा ही से आपने मुझ दरिद्र को भी अपनी कन्या दे दी है । अब मैं जाना चाहता हूँ । विदा कीजिये ।

सुबाहु—जो आपको अच्छा लगेगा, वही मैं करूँगा । परन्तु मार्ग को रोक कर पड़े हुए युधाजित् इत्यादि युद्ध करेंगे, इसलिये मैं भी वहाँ तक जाना चाहता हूँ ।

सुदर्शन—जैसी आपकी इच्छा ।

[तदनन्तर बाजे सुनाई पड़ते हैं ।]

(दोनों जाते हैं)

तृतीयं दृश्यम्—पटोन्नयनम्

(मार्गमवरुध्य युधाजित्प्रभृतयः स्थिताः। सुबाहुना सह सुदर्शनः पुरोभूय गच्छति।)

युधाजित्—रे रे तिष्ठत तिष्ठत क्व नु रणाद् भीताः प्रयाथ द्रुतं
पश्यैतैनमसिं चिराच्च भवतां यः शोणितं पास्यति।
सोऽद्यैव क्षणशो निहत्य सकलान् युष्मानुपेतान् रणे
पीत्वा वो रुधिरं स्विकामिह तृषां विध्मापयिष्यत्यलम् १३

सुदर्शनः—(मनसि)
जगदम्ब त्वदाज्ञप्तो विवाहार्थमुपागमम्।
अथेदानीमिमान् हन्तुं मामाज्ञापय सत्वरम् ॥१४॥

(प्रकाशम्)—अरे रे क्षत्रियापसद ! उज्जयिनीपते !
दैवादुपेतं त्वां छित्वा त्वदीयरुधिराम्बुभिः।
मातामहं तर्पयेऽद्य करिष्ये वैरशोधनम् ॥१५॥

तृतीय दृश्य-

परदा उठता है।

[मार्ग को रोककर युधाजित् इत्यादि खड़े हैं। सुबाहु के साथ सुदर्शन आगे होकर जा रहा है।]

युधाजित्—अरे भगोड़ो, ठहरो, ठहरो, संग्राम स्थल से भयभीत होकर कहाँ शीघ्रता से भाग रहे हो। इस तलवार को देखो, यह बहुत दिनों से तुम्हारा खून पीना चाह रही है। आज वह क्षण भर संग्राम में आए हुए तुम सब को मार कर और तुम्हारे रुधिर को पीकर अपनी पिपासा भलीभाँति शान्त कर लेगी ॥१३॥

सुद०—(मन में) हे जगदम्बिके, तुम्हारी आज्ञा से यहाँ आया हूँ। अब, इस समय इनको मारने के लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥१४॥

(प्रकाश) अरे क्षत्रियाधम, उज्जयिनी नरेश,

आज भाग्यवश आए हुए तुमको काटकर, तुम्हारे रुधिर रूपी जल से अपने नाना का तर्पण कर बदला चुकाऊँगा ॥१५॥

(पुनरग्रे जिगमिषन्तं सुबाहुः स्वपृष्ठतः करोति, धनुषा शरं संदधाति च ।)

जगदम्बा—(ततः भक्तसुदर्शनं रक्षन्ती प्रत्यक्षतः पुरोभूय गर्जन्ती—)

रे रे केरलाधिपते ! अस्य अन्यायिनो युधाजितस्त्वमपि पृष्ठानुलग्नो मुमूर्षुरेव जातः ।

केरलनरेशः—(मानुषीं सुदर्शनस्य मातरं मन्यमानः) अरे दुष्टे ! सज्जीभव । पूर्वं त्वामेव हनिष्यामि ।

(ततः सुदर्शनबाणैस्त्रस्ता युधाजित्सेना पलायिता । यावत्केरलनरेशं हन्तुं सुदर्शनः बाणं संदधाति तावदम्बिकया निहतं तं भूमौ पतितं पश्यति ।)

(पुनर्जगदम्बिका किञ्चिदग्रे गत्वा शत्रुजितं युधाजितं च हिनस्ति ।)

चतुर्थं दृश्यम्—पटोन्नयनम्

(सुदर्शनः—सर्वतोऽवलोक्य विजयशंखं धमति । काशीनरेशः माल्यं जगदम्बां परिधापयति । पुनस्तस्याश्चरणयोः पतितः ।)

[तदनन्तर आगे जाने की अभिलाषी सुबाहु को अपने पीछे करता है और धनुष पर बाण चढ़ाता है । तदनन्तर भक्त सुदर्शन की रक्षा करती हुई जगदम्बिका आगे होकर गरजती है ।]

जगदम्बिका—अरे केरलनरेश, तू भी इस अन्यायी युधाजित् का अनुगामी होकर मरणासन्न ही हो गया है ।

केरलनरेश—(उसे सुदर्शन की मानवी माता मानकर) अरी दुष्टा ! तैयार हो जाओ, पहले तुम्हारा ही बध करूंगा ।

[तदनन्तर सुदर्शन के बाणों से परित्रस्त युधाजित् की सेना भाग खड़ी होती है, ज्यों ही केरल नरेश को मारने के लिये सुदर्शन शर का सन्धान करता है, त्यों ही उसे जगदम्बा के द्वारा निहत और भूमि पर पतित देखता है । फिर जगदम्बिका कुछ आगे जाकर शत्रुजित् और युधाजित् का बध कर देती है । सुदर्शन चारों ओर विजय शंख बजाता है ।]

(चतुर्थ दृश्य । परदा उठता है)

[काशी नरेश जगदम्बा को माला पहनाता है, तदनन्तर उनके पदपद्मों में प्रणाम करता है ।]

जगदम्बा—उत्तिष्ठ सुबाहो ! अहं त्वयि प्रसन्नाऽस्मि । यन्ममाज्ञामवगत्य मद्भक्ताय सुदर्शनाय कन्यामददाः ।

सुबाहुः—[उत्थाय, हस्तावुपनिबध्य ।]

त्वत्तो भवन्ति सकलानि जगन्ति मातः,

त्वय्येव यान्ति विलयं प्रलयेऽप्यपर्णे ।

कूर्माङ्गवत्स्वकृपयैव बहिर्विधत्से

भूयो लयं वितनुषे निजभव्यदेहे ॥१६॥

जगदम्बा—सुबाहो ! अहं प्रसन्नाऽस्मि, वरं वृणीष्व ।

सुबाहुः—इह वाराणस्यामेव सर्वदा तिष्ठ ।

जगदम्बा—अस्तु, इहैव दक्षिणस्यां दिशि मत्स्थानं विधेहि, तत्र दुर्गानाम्ना स्थास्यामि ।

न कश्चिद् दुर्गतिं यायान्मन्नाम्ना मामनुस्मरन् ।

मच्चरित्रं पठंश्चापि सर्वसम्पत्तिमाप्नुयात् ॥१७॥

जगदम्बिका—उठो सुबाहु, मैं तुमसे इससे प्रसन्न हूँ कि मेरी आज्ञाको जानकर मेरे भक्त सुदर्शन को तुमने अपनी कन्या दे दी है ।

सुबाहु—(उठकर और हाथ जोड़कर) इन सम्पूर्ण देव दानव तथा मनुष्यों का तथा इन भुवनों का उद्‌गम और लय तुम्हीं से होता है । तुम ही अपनी कृपा से कूर्माङ्ग के समान इनको बाहर करती है; और फिर अपने ही सुन्दर शरीर में लय कर लेती है । (कच्छप जब चाहता है, तब अपने अङ्गों को बाहर करता है, और जब चाहता है तब भीतर सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार उत्पत्ति और लय की लीला आप रचा करती है) ॥१६॥

जगदम्बिका—सुबाहु, मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ।

सुबाहु—काशी ही में सदा निवास कीजिये ।

जगदम्बिका—बहुत अच्छा । यहीं पर दक्षिण की ओर मेरा मन्दिर बनाओ, वहाँ पर दुर्गा के नाम से मैं निवास करूंगी ।

मेरे नाम से मेरा स्मरण करने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त न होगा, और मेरे चरित्र का पाठ करने वाला मनुष्य सदा सम्पूर्ण सम्पत्ति को उपलब्ध करेगा ॥१७॥

भरद्वाजः सुदर्शनाय चाक्षुषं दर्शनं, सम
अगस्त्यकृतं याने
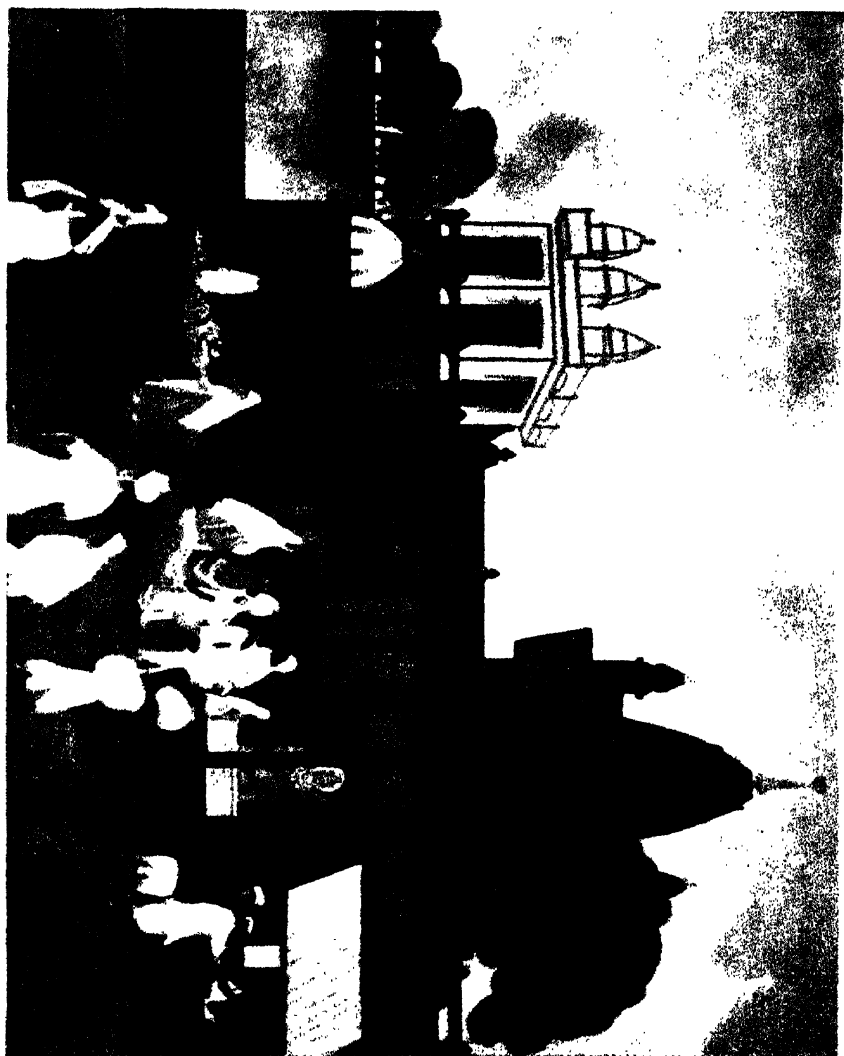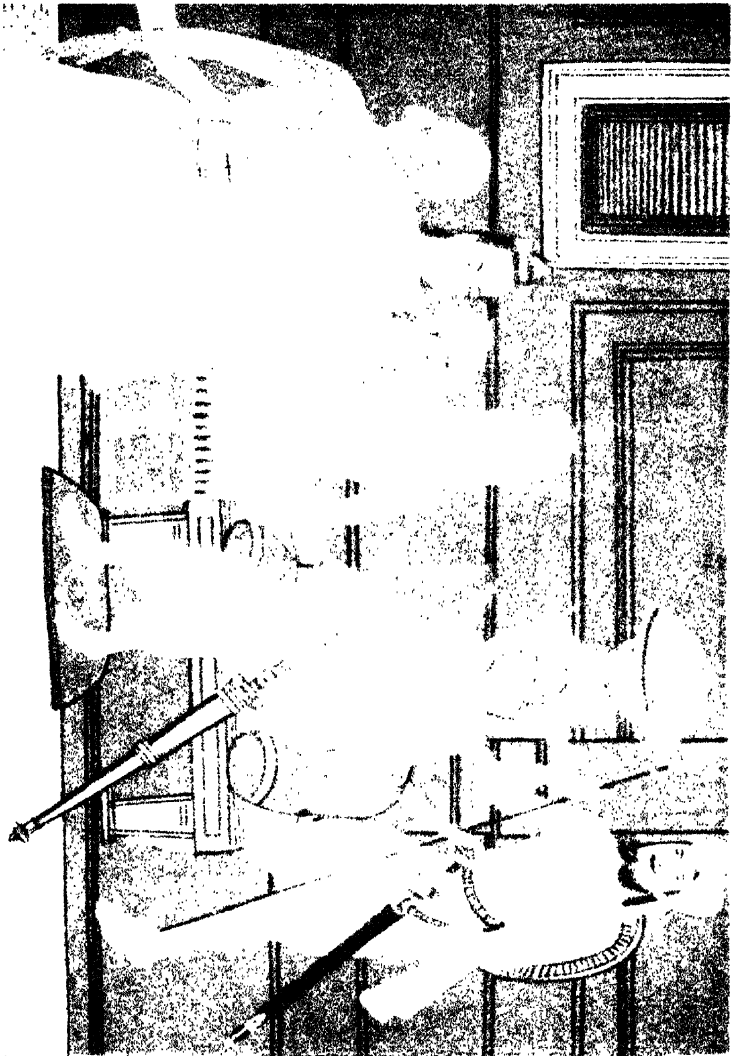
सुबाहुः—सर्वं त्वदाज्ञानुकूलमेव विधास्यामि । [इति चरणयोः पुनः पतति ।]

[सुदर्शनो जगदम्बायाश्चरणयोः पतति । सा तमुत्थाप्य पृष्ठे परामृशन्ती]

जगदम्बिका—वत्स ! तव भक्त्या अहमतिप्रसन्नाऽस्मि, त्वं गत्वा साकेतराज्यमुपभुङ्क्ष्व ।

सुदर्शनः—मातः ! नाहं त्वच्चरणतो दूरे स्थातुमिच्छामि ।

जगदम्बिका—यदा स्मरिष्यसि, तदैवोपस्थास्यामि । त्वं स्वनगरे गत्वा मार्कण्डेयोक्तानि मच्चरित्राणि प्रचारय, तेषां पाठादहमतिप्रसन्ना भवामि । विशेषतः शरदि आश्विने मासि शुक्लपक्षे प्रतिपदातः ये नवरात्रे महापूजां मम चरित्रपाठं च करिष्यन्ति तेषामहं सर्वतोभावेन विद्यां धनधान्यपुत्रादिसंपत्तिं विधास्यामि । एवं चैत्रेऽपि मच्चरित्राणि मम संतोषकारकाणि ।

सुबाहु—तुम्हारे आदेश के अनुसार ही सब कुछ करूंगा ।

[पदपद्मों पर फिर गिरता है ।]

[सुदर्शन जगदम्बा के पैरों पर गिरता है । वह उसे उठाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरती हुई—]

जगदम्बिका—बेटा सुदर्शन, मैं तुम्हारी भक्ति से अति प्रसन्न हूँ । तुम जाकर अयोध्या के राज्य का उपभोग करो ।

सुद०—माता ! मैं आपके चरण कमलों से दूर नहीं रहना चाहता हूँ ।

जगदम्बिका—जब स्मरण करोगे तब आ जाऊंगी । तुम अपने नगर में जाकर मार्कण्डेय द्वारा कहे गए मेरे चरित्रों का प्रचार करो । उनके पाठ से मैं अत्यन्त प्रसन्न होती हूँ । विशेष कर शरद ऋतु में आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर नवमी-पर्यन्त, नवरात्र में जो लोग मेरी विशेष पूजा तथा मेरे चरित्र का पाठ करते हैं, उनको मैं सब प्रकार से विद्या; धन, धान्य, पुत्र आदि सम्पत्ति से सम्पन्न कर देती हूँ । इसी प्रकार चैत्र में भी मेरे चरित्रों का पाठ मुझे सन्तोष देता है ।

सुदर्शनः—मातः! भरद्वाजमुनेरनुज्ञामादाय साकेते गन्तुमभिलषामि।

जगदम्बा—अवश्यमेवमेव विधेहि। वत्स! एतेन अहमतिप्रसन्नाऽस्मि।

(कर्णाटकनरेशः—सर्वमिदं दृष्ट्वा विमूढः सन् जगदम्बामातुश्चरणयोः पतति)

जगदम्बा—उत्तिष्ठ। (स उत्थाय जगदम्बां पश्यति।)

कर्णाटकनरेशः—त्वत्स्वरूपानभिज्ञोऽस्मि व्याप्ता सर्वत्र दृश्यसे।
अज्ञं जनमिमं स्वीयं कृत्वा मा त्यज दूरतः ॥१८॥

किं च—प्रत्येकजन्मन्यपरापरैव नटक्रियाऽदर्शि मया तवाग्रे।
अथ प्रसन्नासि वरः प्रदेयो न वा प्रसन्नाऽसि निवर्तयस्व ॥१९॥

जगदम्बा—[किञ्चित्स्मित्वा] वरं ब्रूहि, किमभिलषसि ?

कर्णाटकनरेशः—भवत्याश्चरणयोः समीपे सार्वकालिकीं स्थितिमभिलषामि।

सुद०—माता, भरद्वाज मुनि से आज्ञा लेकर मैं अयोध्या जाना चाहता हूँ।

जगदंबिका—ऐसा अवश्य करो। बेटा, तुम्हारे इस कार्य से मैं अति प्रसन्न हूँ।

(कर्णाटकनरेश—इन सब को देख कर विमूढ-सा हुआ जगदंबा माता के पदपद्मों में प्रणाम करता है।)

जगदंबिका—उठो। (वह उठकर सर्वत्र जगदंबा को ही देखता है।)

कर्णाटकनरेश—मैं तुम्हारे स्वरूप से अनभिज्ञ हूँ। तुम सर्वत्र व्याप्त दिखाई देती हो, इस अज्ञ मनुष्य को अपना बनाकर इसे दूर न कीजिये ॥१८॥

और—

प्रत्येक जन्म में मैंने भिन्न भिन्न रूप की नट क्रियायें तुमको दिखलाई हैं, यदि तुम प्रसन्न हो तो मुझे वर (इनाम) दो। यदि तुम नहीं प्रसन्न हो, तो मुझे हटा दो (आवागमन से मुक्त कर दो) ॥१९॥

जगदंबा—(कुछ मुसकराकर) वर माँगो, क्या चाहते हो?

कर्णाटकनरेश—आपके चरणों के समीप सदा निवास चाहता हूँ।

कर्णाटकनरेशः पांजरहम्बां स्तुते

जगदम्बा—सारूप्यसायुज्यसामीप्यमुक्तिभिर्यूयं यथाभिलषितं लभध्वम्। (इत्युक्त्वा अन्तर्हिता ।)

कर्णाटकनरेशः—सुबाहो ! धन्योऽसि, येन ईदृशो जामातोपलब्धः। यत्प्रभावेण जगदम्बाया दर्शनं जातम् । अनिर्वचनीयलाभश्चोपपन्नः ।

सुबाहुः—सर्वं ब्राह्मणानां प्रसादाद् जगदम्बायाः कृपातश्चोपगतम् ।

सुदर्शनः—काशीपते ! भरद्वाजाश्रमे गन्तुमभिलषामि ।

सुबाहुः—यथा भवद्भ्यो रोचते ।

सुदर्शनः—कर्णाटकनरेश ! भवन्तमहमभिवादये ।

कर्णाटकनरेशः—भवान् अस्मद्भाग्यविधाता, पूजनीयश्च । (इति शिरसा प्रणमति)

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीमहामहोपाध्याय-मथुराप्रसादकृतौ भक्तसुदर्शन-
नाटके पंचमोऽङ्कः ।

जगदंबिका—सारूप्य सायुज्य सामीप्य मुक्तियोंके द्वारा तुम मनोऽभिलषित वर पाओ । (यह कह कर अन्तर्हित हो जाती है ।)

कर्णाटकनरेश—सुबाहु, तुम धन्य हो, तुम्हें ऐसा दामाद मिला है जिसके प्रभाव से जगदंबिका के दर्शन हो गए हैं । और इस अनिर्वचनीय लाभ की प्राप्ति हुई है ।

सुबाहु—ब्राह्मणों के अनुग्रह से और जगदंबा की कृपासे सब कुछ उपलब्ध हो गया है ।

सुद०—काशीनरेश, मैं भरद्वाज के आश्रम में जाना चाहता हूँ ।

सुबाहु—जो आपकी इच्छा ।

सुद०—कर्णाटकनरेश; मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।

कर्णाटक नरेश—आप हमारे भाग्य के निर्माता है, अतः पूजनीय हैं ।

(सिर झुकाकर प्रणाम करता है ।)

(सब चले जाते हैं)

इति श्री महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाददीक्षित के द्वारा विरचित
भक्त सुदर्शन नाटक का पञ्चम अंक समाप्त हुआ ।

षष्ठोऽङ्कः

प्रथमं दृश्यम्

पटोन्नयनम्

(प्रयागे स्वाश्रमे भरद्वाज आसने आसीनः; पुरतः सपत्नीको मात्रा च सह सुदर्शनः स्थितः ।)

भरद्वाजः—कथय, सुदर्शन ! तत्र कथं कि किं जातम् ?

सुदर्शनः—महाराज ! भवतां कृपातः जगदम्बाया अनुकम्पया च अतिकठिनमपि सर्वं संपन्नमेव । युधाजित्प्रभृतयस्तु—

सेनाबलेन रहितं निर्भयं मामुपागतम् ।
तिरस्कर्तुं समुद्युक्ताः काशिराजेन वारिताः ॥१॥

भरद्वाजः—ततस्ततः ?

सुदर्शनः—ततः सैन्यबलरहित एकाकी भवान् युद्धं किं विधास्यतीत्युक्ते—

छठा अंक

प्रथम दृश्य

(परदा उठता है)

(प्रयाग में अपने आश्रम में भरद्वाज आसन पर बैठे हुए हैं । सामने अपनी माता के साथ सुदर्शन सपत्नीक बैठा हुआ है ।)

भरद्वाज—कहो सुदर्शन, वहाँ क्या क्या हुआ और कैसे निपटे ?

सुद०—महाराज, आपके अनुग्रह से और जगदंबिका की कृपा से अति कठिन भी सब कार्य सिद्ध हो गए । युधाजित् इत्यादि तो—

सैन्य बल से विरहित एकाकी समागत इस व्यक्ति का अपमान करने को समुद्यत हो गए, परन्तु काशीराज ने उन्हें ऐसा करने से रोका ॥१॥

भरद्वाज—फिर ।

सुद०—तदनन्तर, उनके इस कथन पर कि सेना रहित एकाकी आप संग्राम में क्या कर सकेंगे—मैंने कहा कि—

मया—एकेनैव हता निशाचरचमू रामेण घोरे वने
संग्रामे खरदूषणप्रभृतयः किं न श्रुताः पातिताः ।
एकोऽहं रणसंगतानरिमृगान् हन्तुं क्षमः सिंहवत्,
आशंसे जगदम्बिकाचरणयोरेकां कृपां सद्बलम् ॥२॥

इत्युक्तम् । ततो मामवलोक्य चकिताः सर्वेऽभवन् ।

भरद्वाजः—साधु साधु ! वीरक्षत्रियोचितमेवोक्तम् । ततस्ततः ?

सुदर्शनः—तदनन्तरं कर्णाटकनरेशप्रभृतिभिर्मम जगदम्बायां भक्तिमवलोक्य बहु प्रशंसितम् । परं युधाजिता 'अहमेवं विधास्ये अहमेवं विधास्यामी' त्यादि बहु प्रलपितम् । पुना रात्रौ विवाहे जाते द्वितीयदिवसे शिष्टाचारार्थं गतेन काशीराजेन सह तस्य विवादः संजातः ।

भरद्वाजः—आम्, अहं युधाजितं जानामि, दुष्टोऽसौ ।

क्या आपको यह नहीं मालूम है कि श्री रामचन्द्र ने अकेले भयानक वन में राक्षसों की सेना का विनाश कर दिया था, खर-दूषण इत्यादिकों का संग्राम में वध कर दिया था, जिस प्रकार सिंह रणार्थ एकत्रित हरिण समूहों का वध कर देता है, उसी प्रकार संग्राम के लिये समुद्यत शत्रु-समूह का विनाश करने में मैं पूर्णतया समर्थ हूँ । मैं तो केवल जगदंबा के चरण कमलों के अवलम्बन का ही बल चाहता हूँ ॥२॥

इसके अनन्तर मुझको देखकर सब चकित हो गए ।

भरद्वाज—खूब कहा, यह तो वीर क्षत्रिय के अनुरूप ही कहा है । फिर ?

सुद०—तदनन्तर जगदंबा में मेरी भक्ति देखकर कर्णाटक नरेश आदि राजाओं ने मेरी बहुत प्रशंसा की, परन्तु 'मैं ऐसा करूंगा, मैं ऐसा करूंगा' इत्यादि वचनों से युधाजित् ने अपनी खूब डींग हांकी, फिर रात्रि में विवाह हो जाने पर जब दूसरे दिन शिष्टाचार के लिये काशीनरेश गए, तो उनका उनके साथ विवाद हुआ ।

भरद्वाज—हाँ !!! मैं युधाजित् को जानता हूँ । वह दुष्ट है ।

खलो वा कण्टको वाऽपि नोपास्यौ सुधिया क्वचित् ।
उपानद्भिर्मुखस्यैव शासनीयौ विमर्दनैः ॥३॥

ततस्ततः ।

सुदर्शनः—ततः ससैनिकेन सुबाहुना सह आगच्छन्तं मां युधाजित्प्रभृतयो मार्गे रुरुधुः । तैः सह संग्रामश्च जातः । तत्र जगदम्बिका प्रकटीभूय क्षणेनैव सर्वान् व्यनाशयत् । साकेते गत्वा राज्यं कर्तुं माम् आज्ञापयच्च ।

भरद्वाजः—पुत्रि ! मनोरमे ! जगदम्बाया मन्त्रस्य प्रभावो दृष्टः ?

मनोरमा—भगवन् ! किं कथयामि, स तु अनिर्वचनीयप्रभाव एव । येन असंभावितमेव सर्वं संपादितम् ।

भरद्वाजः—अथ किम्, वत्से ! मनोरमे ! अस्य प्रभावादेव सर्वथा ते दुःखमपगतम् । अथ आगतस्ते सुखस्यावसरः । अतः परं साकेते गच्छ ।

मनोरमा—महाराज ! प्रणमामि ।

विद्वान् को चाहिये कि दुष्ट तथा कण्टक की कभी भी परिचर्या (टहल) न करें, इसके मुख का मर्दन सदा ही जूतों से किया करें ॥३॥

फिर फिर ?

सुद०—तदनन्तर सेना लेकर सुदर्शन के साथ जब मैं आ रहा था तब युधाजित् इत्यादि ने हमें मार्ग में रोका । उनके साथ संग्राम भी हुआ । वहाँ पर प्रकट होकर जगदंबा ने क्षण ही भर में सब का विनाश कर दिया, और मुझे आज्ञा दी कि मैं साकेत में जाकर राज्य करूँ ।

भरद्वाज—बेटी मनोरमा, तुमने जगदंबा के मन्त्र का प्रभाव देखा ?

मनोरमा—महाराज ! क्या कहूँ, उसका तो प्रभाव अनिर्वचनीय ही है । इसने तो सम्पूर्ण दुःसाध्य (कार्यों) को सिद्ध कर दिया है ।

भरद्वाज—और क्या ? इसके प्रभाव से ही तुम्हारा दुःख सदा के लिये बिदा हो गया । अब तुम्हारे सुख के दिन आ गए हैं । अब अयोध्या जाओ ।

मनोरमा—महाराज ! प्रणाम करती हूँ ।

भरद्वाजः—सर्वथा स्वाभिलषितं लभस्व।

सुदर्शनः—(साष्टाङ्गं प्रणम्य उत्थाय हस्तौ मुकुलीकृत्य च)

विद्याप्रदानेन सुशिक्षकस्त्वं मन्त्रोपदेशाच्च गुरुस्त्वमेव।
रक्षाविधानादपि जीवदाता सर्वस्वरूपो भगवन्भवान्मे ॥४॥

भरद्वाजः—सुदर्शन ! गच्छ, राज्यसुखमुपभुङ्क्ष्व। परम्—

पाल्याः प्रजास्तु भवता सुतनिर्विशेषं
कुत्रापि ते भवतु नो वचनीयताऽपि।
स्वप्नेऽपि नैव विरतिर्जगदम्बिकाया
भूयात्पदोरनुपदं हृदि चिन्तनाच्च ॥५॥

सुदर्शनः—महाराज ! जगदम्बाया भवतश्च आज्ञया गन्तुमभिलषतोऽपि न मे पादौ उत्तिष्ठतः, किं कुर्याम् ? भवच्चरणयोरनुलग्नं मनो नापसर्पति। यदि भवानाज्ञापयति तर्हि इह स्थित एव राज्यप्रबन्धं कुर्याम्।

भरद्वाज—तुम्हारे मनोरथ सर्वथा सिद्ध हो।

सुद०—(साष्टाङ्ग प्रणाम कर, उठकर और हाथों को जोड़कर—)

विद्या के प्रदान करने से आप मेरे शिक्षक हैं, मन्त्र के उपदेश करने से आप मेरे गुरु हैं। रक्षा करने से आप मेरे प्राणरक्षक हैं। अतः हे भगवन्, आप मेरे सब कुछ हैं ॥४॥

भरद्वाज—सुदर्शन जाओ। राज्य सुख का उपभोग करो। परन्तु—

अपने पुत्र के समान ही प्रजा का पालन करना। उनमें भेद-भाव न उत्पन्न हो। जनता तुम्हारे कोई दोष न जान सके। और हृदय में सदैव (जगदंबा के) चरण कमलों के ध्यान करने से स्वप्न में भी जगदंबा से विरति न हो ॥५॥

सुद०—महाराज, आप की और जगदंबा की आज्ञा से मैं यद्यपि जाना चाहता हूँ, पर मेरे पैर नहीं उठते। क्या करूँ ? आप के चरणों में लगा हुआ मन नहीं हटता। यदि आप आज्ञा दें तो यहीं रहकर राज्य का प्रबन्ध करूँ।

भरद्वाजः—(स्मित्वा) बालस्त्वम्, राज्यकर्मचारिव्यवहारानभिज्ञोऽसि।

शृणु—राज्ये भवन्ति कुटिलाः सचिवादयो ये
लोभेन ते स्वनृपतिं परिवञ्चयन्ति।
छायैव रक्षति नृपस्य गतस्य राज्ये,
तस्मादुपेत्य खलु तत्र कुरु प्रबन्धम् ॥६॥

सुदर्शनः—तर्हि राज्यम् असिधारावलेहनमेव। अतो भवतां चरण-सेवामेवानुगच्छामि।

भरद्वाजः—वत्स! राज्ये केचन राजभक्ता अपि भवन्ति।

सुदर्शनः—यथा भवतां जगदम्बायाश्चाज्ञा भवति तथैव संपाद-यिष्यामि। परं भवतां दर्शनं कदा भविष्यति।

भरद्वाजः—वत्स! यथावसरमुपस्थास्ये।

सुदर्शनः—यथा भवतामाज्ञा। (इति सस्त्रीकः प्रणम्य मातरं पुरस्कृत्य निर्गच्छति।)

भरद्वाज—(मुसकराकर) तुम बच्चे हो। राज्य कर्मचारियों के व्यवहारों से अनभिज्ञ हो। सुनो,

राज्य में मन्त्री इत्यादि कुटिल होते हैं, वे लोभवश अपने राजा को बदल देते हैं (उसे हटाकर उसके स्थान दूसरे को बैठा देते हैं)। राज्य में स्थित राजा की छाया ही रक्षा करती है। इसलिये वहाँ पहुँचाकर राज्य का प्रबन्ध करो ॥६॥

सुद०—तो राज्य प्रबन्ध तलवार की धार का चाटना है (तलवार की धारा पै धावनो है।) इसलिये आपके चरणों की सेवा का ही आश्रय लेता हूँ।

भरद्वाज—बच्चे! राज्य में कुछ राजभक्त भी होते हैं।

सुद०—जैसी आप की तथा जगदंबा की आज्ञा होगी वैसा ही करूंगा, परन्तु आप के दर्शन कब होंगे?

भरद्वाज—बेटा, अवसर मिलने पर उपस्थित होऊँगा।

सुद०—जैसी आपकी आज्ञा।

[स्त्री के साथ प्रणाम कर माता को आगे कर जाता है।]

पटोन्नयनम्—

(अयोध्यायां लीलावतीं विमातरं सस्त्रीकः सुदर्शनः प्रणमति ।)

सुदर्शनः—मातः ! भवितव्यतावशादेव युधाजिच्छत्रुजितौ निहतौ । अहं ते चरणसेवकः । मनोरमामाता तु मे जन्मदात्री, सर्वथा आज्ञापालकः पुत्रस्तु तवैवास्मि । मातः ! अणुमात्रतोऽपि पुत्रशोकं मा कुरु ।

लीलावती—(शिरसि स्पृशन्ती) तवैतदाचरणेन अहमतिप्रसन्नाऽस्मि । त्वयि स्वपितुरनिर्वचनीयामिच्छामवगत्य भगवांस्तव रक्षार्थं बहुतरमाराधितः । मद्भाग्यात्सफलीभूतमाराधनम्—यदक्षतस्त्वं दृष्टोऽसि ।

सुदर्शनः—मात ! भवत्याः कृपात एव अहमव्रणः ।

लीलावती—वत्स ! वर्षशतं जीव । गच्छ राज्यं कुरुष्व । (ततः प्रणम्य निर्गच्छति)

(पटीक्षेपः)

(परदा उठता है)

[अयोध्या में स्त्री के साथ सुदर्शन सौतेले मा लीलावती को प्रणाम करता है ।]

सुद०—माता जी, भवितव्यता के वश युधाजित् और शत्रुजित् मारे गए, मैं आपका चरण सेवक उपस्थित हूँ । मनोरमा तो मेरी जन्म देने वाली माता है, पर मैं सर्वतोभाव से आप का आज्ञापालक पुत्र हूँ । माता, जरा सा भी पुत्र का शोक न कीजिये ।

लीलावती—(सिर का स्पर्श करती हुई) तुम्हारे इस आचरण से अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम्हारे पिता जी की तुम पर अधिकाधिक इच्छा जान कर मैने तुम्हारी रक्षा के लिये भगवान् की बहुत आराधना की थी । मेरे भाग्य से आज वह आराधना सफल होगई है, क्यों कि तुम क्षत रहित दिखाई पड़ते हो ।

सुद०—माता जी ! आप की कृपा ही से मुझे कोई चोट नहीं लगी ।

लीलावती—बेटे ! शतायु हो (सौ बरस जीओ) । जाओ राज्य करो ।

(तदनन्तर प्रणाम करके चला जाता है ।)

(परदा गिरता है ।)

पटोन्नयनम्

(प्रजाः सिंहासने समासीनाय सुदर्शनाय उपायनानि ददते । सुदर्शन उपायनानि स्पृशति । अनुचरो यथास्थानं स्थापयति ।)

सुदर्शनः—भो भो प्रजाः !

अहं वो दुःखदारिद्र्याद् ईतिचौरद्विपद्भयात् ।
रक्षयिष्यामि सततं यूयं मम सुतोपमाः ॥७॥

(सर्वे सुप्रसन्नाः प्रणम्य निर्गच्छन्ति । कुट्पालः प्रणमन् मुकुलितहस्तस्तिष्ठति ।)

कुट्पाल ! एवं सुप्रबन्धः क्रियताम्—

द्वाराण्युद्घाट्य लोकाः समुदमिह समे निर्विशङ्कं स्वपन्तु
द्रव्याण्यारक्षयन्तः प्रतिपथमखिलाः पूरुषाः सञ्चरन्तु ।
दुःखं कस्यापि न स्यात् पणभजनमपि क्वापि राज्ये न तिष्ठेत्
उत्कोचं नैव कश्चिद् व्रजतु कृतिविधौ सर्वराज्ये सुखं स्यात् ॥८॥

[परदा उठता है]

[प्रजा सिंहासन पर समासीन सुदर्शन को उपायन (नजर) दे रही हैं। सुदर्शन उपायनों का (नजरों का) स्पर्श करता है । अनुचर उसे यथास्थान रख रहा है ।]

सुद०—हे प्रजा के लोगों,

मैं आप लोगों की रक्षा दुःख और दरिद्रता से तथा ईति (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक शलभ (टिड्डी) शुक और प्रत्यासन्न राजा) चोर और वैरियों से सदा करूंगा । तुम लोग मेरे पुत्र के समान हो ॥७॥

[सुन कर सब प्रसन्न हो प्रणाम कर चले जाते हैं । कोतवाल प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़ा है ।]

सुद०—कोतवाल साहब, ऐसा सुप्रबन्ध करो कि—

सब लोग प्रसन्नता के साथ अपने द्वारों को खोलकर निर्भय सोवें । और उनके द्रव्यों की रक्षा करते हुए पुलिस के कर्मचारी प्रहर २ पहरा देते रहें । किसी को न दुःख हो, राज्य में कहीं पर भी जुआड़ी न दिखाई दें । कार्य सिद्धि के लिये कोई घूस न ले । इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य में सुख मिले ॥८॥

कूटपालः—महाराज ! एवमेव सुप्रबन्धेन विधास्यामि ।

(इति स प्रणम्य निष्क्रामति । पुनः मन्त्री प्रविश्य प्रणम्य च पार्श्वे आसन्द्यां तिष्ठति ।)

सुदर्शनः—मन्त्रिन् ! एवं क्रियताम् । येन—

नच प्रजास्वनाचारो मम राज्ये भवेत्कचित् ।
सबलो निर्बलं वापि न बाधेत कथंचन ॥९॥

किञ्च—व्याख्यानैर्युक्तिवादैश्च प्रचारैस्तन्महोत्सवैः ।
लोकेषु जगदम्बाया भक्तिं सर्वत्र वर्धयेः ॥१०॥

मन्त्री—महाराज ! एवमेव भविष्यति, भवतां प्रतापात् जगदम्बाया अनुकम्पातश्च सर्वोऽपि जनः परां भक्तिमापत्स्यते ।

कोतवाल—महाराज, सुप्रबन्ध से ऐसा ही करूँगा ।

[कोतवाल प्रणाम कर चला जाता है । तदनन्तर मन्त्री आकर तथा प्रणाम कर पास पड़ी हुई कुरसी पर बैठ जाता है ।]

सुद०—मन्त्री जी; ऐसा कीजिये कि जिससे—

मेरे राज्य में कहीं पर भी प्रजापर अत्याचार न होने पावे, अथवा सबल किसी भाँति भी निर्बल को न सता सके ॥९॥

इसके अतिरिक्त—

व्याख्यानों से, तर्क पद्धतियों से, प्रचारों से तथा महोत्सवों से लोगों में जगदम्बा की भक्ति सर्वत्र बढाने का उद्योग करो ॥१०॥

मन्त्री—महाराज, ऐसा ही होगा । आपके प्रताप से तथा जगदम्बा की अनुकम्पा से सभी लोग नवधा भक्ति की उपलब्धि करेंगे ।

[श्रवण, कीर्तन, मनन, चरण सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन से नव संख्याकी भक्ति वस्तुतः तीन प्राङ्गणों में विभक्त है । सर्वशक्तिमयी जगदंबा में भक्ति अर्थात् परा अनुरक्ति सम्पादन के लिये प्रथम प्राङ्गण का प्रथम सोपान— श्रवण । श्रीदेवीभागवत मार्कण्डेय पुराण आदि का श्रवण—अत्यन्त आवश्यक है, इसके बिना साधक देवी भक्ति-मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी ही नहीं है । तदनन्तर श्री शक्ति ग्रन्थों के श्रवण से समुपलब्ध ज्ञान की स्थिरता के

लिये कीर्तन कितना आवश्यक है। इसका परिज्ञान एक साधारण छात्र को भी है। बिना रटे-बिना बारं बार कहे किसी भी वस्तु के ज्ञान की स्थिरता नहीं है। और उस पर भी जगदंबा का ज्ञान। अतः द्वितीय सोपान पर समवस्थित साधक दुर्गापाठ-देवीभागवत-आदि ग्रन्थों का तथा जगदंबा के स्तोत्रों का पाठ तथा नाम-कीर्तन करता रहता है। पर ज्यों ही वह तीसरे सोपान की ओर दृष्टिपात करता है, त्यों ही उसके मनोमन्दिर में श्रवण तथा कीर्तन के आधार पर एक जिज्ञासा का उदय होता है। 'जगदंबा हैं क्या ?' इस जगदंबा दर्शन की विवेचना करता हुआ साधक द्वितीय प्रांगण की ओर प्रवेश करता है। शक्तित्रयी, नव मातृका, दश महाविद्या, दक्षिण कालिका आदि शक्ति के विभिन्न रूपों में से किसी एक पर आसक्त होकर उसके चरणकमलों की ओर अपलक दृष्टि से देखने लगता है, यही है द्वितीय प्रांगण का प्रथम सोपान। पूर्व पुनीत पुण्य के उदय होते ही वह उपलब्ध समग्र साधनों से षोडशोपचार से यथा साध्य समर्चन करने की आयोजना करने लगता है। यही द्वितीय प्राङ्गणका द्वितीय सोपान है। यहीं से साधक सुगमता से वन्दन नामक तृतीय सोपान पर अधि-कार पाने का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार द्वितीय प्राङ्गण के पार करते ही उसके सामने मिलनमय तृतीय प्राङ्गण के दर्शन होते हैं। वह पुत्र रूप से उपस्थित होने में अधिक कल्याण समझता है। बस, फिर क्या पुत्र का कार्य है ? सेवा-समर्चा-करना और माता का कार्य है पुत्र की देख-भाल करना।

'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।'

तृतीय प्राङ्गण के प्रथम सोपान पर खड़ा साधक बड़ा हठी है। वह अनुरक्त शिक्षित सुवन के सामने कार्य करता रहता है। माता का हृदय पसीज उठा— बच्चे को द्वितीय सोपान की ओर खींच लिया। भक्त का कण्ठ भर गया। मां बेटे में बातचीत होने लगी, पर बच्चे ने भय से संकोचवश अथवा अन्य किसी कारण वश अपनी बात न कही। अपने बच्चे को पकड़ कर तृतीय सोपान पर खड़ा कर दिया, और गुरु की ओर देखकर मुसकराती हुई कहने लगी बोल अब क्या चाहता है। बच्चे का गला भर गया। माता को प्रसन्न देखकर उसने फूट फूटकर अपनी बात सुना दी।] ॥१०॥

अयोध्यायां श्रीजगदम्बायाः कीर्तनम्

सुदर्शनः—साधु, एवमेव भवतु । (मन्त्री प्रणम्य निर्गच्छति ।)

दौवारिकः—[1]महाराय ! भरद्दाअइसी संपत्तो सहेव मञ्चालदसाओ रायायसमागओ देवं दट्ठुं अहिलसइ ।

सुदर्शनः—तिष्ठ, अहमेव समुपनयामि । (निष्क्रामति राजा गत्वा समानीय ऋषिं पार्श्वे आसन्द्यामुपवेशयति पाञ्चालराजमपि ।)

पाञ्चालराजः—अयोध्याधिपते ! सुदर्शन ! श्रूयते भवतां राज्ये क्वचिदपि तस्करभयं नास्ति. लोका रात्रावपि कपाटान्युद्घाट्य ससुखं स्वपन्ति । निर्जने प्रदेशे ।रण्ये च जना महतीमपि सम्पत्तिमादाय निर्भयं गच्छन्ति, राज्ये ॠ नाचारो न श्रूयते ।

सुदर्शनः—सव जगदम्बायाः श्रीगुरुचरणानां च कृपातः संपद्यते ।

(ततः प्रविशति नगरश्रेष्ठिना सह मन्त्री ।)

सुद०—बहुत अच्छा । ऐसा ही हो । [मन्त्री प्रणाम करके चला जाता है]

द्वारपाल—[प्रवेश कर] महाराज, प्रयाग से भरद्वाज ऋषि पधारे हैं । साथ ही पाञ्चाल देश के महाराज भी आए हैं । ये दोनों आपसे मिलना चाहते हैं ।

सुद०—ठहरो । मैं ही उन्हें लाता हूँ ।

(राजा जाता है, ऋषि तथा पाञ्चाल नरेश के साथ फिर प्रवेश करता है । उनको यथायोग्य कुर्सियों पर बैठाता है ।)

पाञ्चालनरेश—अयोध्यामहाराज सुदर्शन, सुनते हैं कि आपके राज्य में कहीं पर भी चोरों का भय नहीं है । लोग रात में भी किवाड़े खोल कर आनन्द से सोते हैं । निर्जन स्थानों में तथा जंगल में भी लोग बड़ी भारी रकम के साथ निर्भय भ्रमण करते हैं । राज्य में कहीं भी अनाचार नहीं सुनाई पड़ता ।

सुद०—यह सब जगदंबा की तथा श्री गुरु महाराज की कृपा से हो रहा है ।

[तदनन्तर नगर सेठ के साथ मंत्री का प्रवेश होता है ।]

---

१. महाराज ! भरद्वाजऋषिः संप्राप्तः । सहैव पञ्चालदेशीयो राजा च समागतः, देवं द्रष्टुम् अभिलषति ।

मन्त्री—महाराज ! प्रजाः मित्रवर्गसहितं भवन्तं दुर्गादेवीमहोत्सवे द्रष्टुमभिलषन्ति ।

सुदर्शनः—(भरद्वाजमतिथिं चाभिलक्ष्य) महाराज ! सफलीक्रियतां प्रजानां मनोरथः ।

ऋषिः—यथा भवद्भ्यो रोचते । [इति सर्वे गच्छन्ति ।]

पटोन्नयनम्

प्रजाः—[वादित्रादिकं वादयन्त्यः ।]

जय जय दुर्गे जय जय मातर्जय दुर्गे

शुम्भनिशुम्भविदारिणि मातर्महिषासुरबलदलनतर ।
मधुकैटभखलमोहनशीले दुष्टक्षतभवपानपरे ॥११॥

जय जय दुर्गे जय जय मातर्जयदुर्गे रिपुदलनपरे ।

मन्त्री—महाराज, आपकी प्रजा यह चाहती है कि आप अपने मित्र वर्ग के साथ श्रीदुर्गा महोत्सव में सम्मिलित हों ।

सुद०—(भरद्वाज तथा राजा-अतिथि को लक्ष्य कर) महाराज, प्रजा के मनोरथ को सफल कीजिये ।

ऋषि—बहुत अच्छा ।

[सब चले जाते हैं]

[परदा उठता है]

प्रजा—[बाजा बजाती हुई गाती है ।]

जय जय दुर्गे जय जगदम्बे, जय दुर्गे रिपुदलनपरे ।
शंभु निशुंभ विदारिणि माता महिषासुरबल खण्ड करे ।
मधुकैटभ खल मोहन शीले रक्तबीज कृत खण्ड करे ॥११॥
जय जय दुर्गे जय जगदंबे जय दुर्गे रिपु दलन परे ।

चण्डमुण्डदानवपरिपन्थिनि भक्तसुजनगृहदुःखहरे।
गजमुक्तामणिमण्डितमाले मस्तकशोभितचन्द्रकले॥१२॥

जय जय दुर्गे जय जय मातर्जय दुर्गे रिपुदलनपरे।

सुदर्शनः—मन्त्रिन्! मन्ये जगदम्बिकाया एतेषु महती कृपा।

मन्त्री—अथ किम्? अतएव एते पुत्रधनधान्यादिसंपत्तिभिः सर्वथा सुखिनः। वस्तुतः महाराज! भवतां निष्पक्षपातशासनस्यैवायं प्रभावः।

यतः—धर्मं चरति भ' 'सुखिन्यः सन्ति तत्प्रजाः।
अधर्मेणैव ः ं तासूपजायते॥१३॥

सुदर्शनः—एवमेवैतत्।

[ततः प्रणम्य निष्क्रामन्ति भरद्वाजसहिताः सुदर्शनप्रभृतयः, पटीक्षेपः]

चण्डमुण्ड दानव खलखण्डिनि भक्त सुजन गृह सौख्यचरे।
गज मुक्तामणि मण्डितमाले मस्तक भूषित चन्द्र कले॥१२॥

जय जय दुर्गे जय जगदंबे जय दुर्गे रिपुदलनपरे।

सुद०—मन्त्री जी, मालूम पड़ता है कि जगदंबिका की इनपर विशेष कृपा है।

मन्त्री—महाराज, और क्या। इसीलिये ही ये पुत्र धन धान्य आदि सम्पत्तियों से पूर्ण सुखी हैं। वस्तुतः आप के पक्षपात रहित राज्य प्रबन्ध का ही यह प्रभाव है। क्योंकि—

राजा के धर्मानुष्ठान करने पर उसकी प्रजा सुखी रहती है, और राजा के अधर्माचरण से उनका नाश हो जाता है॥१३॥

भरद्वाज—ऐसा ही है।

[तदनन्तर प्रणाम कर भरद्वाज ऋषि सहित सुदर्शन आदि सब जाते हैं।]

[परदा गिरता है।]

पटोन्नयनम्

[आसन्द्यां भरद्वाजप्रभृतयो यथास्थानमुपविशन्ति ।]

भरद्वाजः—सुदर्शन ! प्रजाजनानां जगदम्बायां परमा भक्तिरवलोक्यते ।

सुदर्शनः—अथ किम ? सर्वमपीदं भवतां कृपात एव एते सुखिनः सदाचारिणश्च ।

अतिथिः—राजन् सुदर्शन ! अस्म यानकथाश्रवणात: श्रीजगदम्बाया भक्ताः संजा

सुदर्शनः—साधु, एवमेव सर्वत्र

सर्वे भवन्तु सुखिनो मा दुः
नैव दुःखं जगन्मातुः कृपातः क्वापि जायते ॥१४॥

भरद्वाजः—एवमेव जगन्मातुः कृपाता भवति ।

[सुप्रसन्नः सन्] राजन्—

[परदा उठता है]

[भरद्वाज आदि के साथ सुदर्शन कुर्सियों पर बैठे हुए हैं]

भरद्वाज—सुदर्शन, प्रजा के लोगों की जगदम्बा के प्रति अपार भक्ति दिखाई पड़ती है ।

सुद०—और क्या ? यह सब आपही की कृपा से है । इसीलिये ये लोग सुखी तथा सदाचारी हैं ।

अतिथि—राजा सुदर्शन, हमारे राज्य में भी व्याख्यान तथा कथा के श्रवण करने से लोग श्रीजगदंबा के भक्त हो गए हैं ।

सुद०—बहुत खूब ! सर्वत्र ऐसा ही हो,
सभी सुखी हों किसी को भी दुःख न हो ।
जगदंबा की कृपा से कहीं भी दुःख नहीं हुआ है ॥१४॥

भरद्वाज—जगदंबा की कृपा से ऐसा ही होता है । [प्रसन्न होकर] राजन् !